स्वदेशी अर्थ व्यवस्था

व्यवस्था

व्यवस्था

व्यवस्था

व्यवस्था

बैजनाथ राय

'वादे वादे जायते तत्वबोधः ।'

भारत की अर्थनीति में तुरन्त कौन से परिवर्तन होना आवश्यक है तथा स्वदेशी अर्थरचना का स्वरूप कैसा रहे, इस विषय पर सार्वजनिक चर्चा का सूत्रपात प्राध्यापक एम्. मोहनदास की पुस्तिका से हो चुका है ।

उसी श्रृंखला की दूसरी कड़ी इस नाते स्वदेशी जागरण मंच श्री बैजनाथ राय की यह पुस्तिका प्रस्तुत कर रहा है ।

श्री राय भारतीय मजदूर संघ पश्चिम बंगाल प्रान्त के महामंत्री हैं । आर्थिक विषयों पर— विशेष रूप से उद्योगों के श्रमिकीकरण के विषय में— आपने गहन अध्ययन किया है । इनके दिये हुए फार्मुले के आधार पर प. बंगाल में जूट की एक बीमार इकाई (न्यू सेन्ट्रल जूट मिल) का पुनरुज्जीवन श्रमिकीकरण के सिद्धान्त पर किया गया है और वह प्रयोग सफलतापूर्वक चल रहा है ।

इस महत्त्वपूर्ण विषय पर मौलिक चिन्तन करने की प्रेरणा इन दोनों पुस्तिकाओं के कारण देशभक्त अर्थचिंतकों में निर्माण हो यही अपेक्षा है । क्योंकि इस तरह के विचार मंथन में से ही सुयोग्य निष्कर्ष का अमृत प्राप्त हो सकता है ।

दत्तोपंत ठेंगड़ी

स्वदेशी अर्थ व्यवस्था

— बैज नाथ राय

मानव जीवन में "अर्थ" का एक विशेष महत्त्व है। इसलिये अर्थ का उपयोग किस प्रकार से हो इस पर समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग मत व्यक्त किया है।

प्रारम्भ से ही इस विषय पर पाश्चात्य एवं स्वदेशी विचारों में मौलिक अन्तर रहा है। यह अन्तर केवल 'अर्थ' के विषय में ही नहीं, अपितु 'सृष्टि', 'मानव' एवं उनसे सम्बन्धित अनेक विषयों पर रहा है। अर्थ का सम्बन्ध मानव से रहा है। मानव का सम्बन्ध सृष्टि से है। इसलिये यदि अर्थ पर सार्थक विचार करना है तो सृष्टि, मानव एवं उनसे सम्बन्धित अन्य सभी विषयों पर भी विचार करना आवश्यक है।

सृष्टि और मानव

पाश्चात्य दर्शन :— सृष्टि और मानव के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी विचारों का श्रीगणेश पाश्चात्य जगत में १५ वीं सदी में गैलेलियो द्वारा हुआ। गैलेलियों ने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी स्थिर नहीं है, अपितु यह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है। इसी आधार पर दुनिया के नये देशों की खोज हुई। इसी प्रकार न्यूटन के 'गति के नियम' तथा 'गुरुत्वाकर्षण के नियम' ने भी वैज्ञानिक सोचों एवं प्रयोगों के नये आयामों की स्थापना की। आइन्सटाइन ने पदार्थ से ऊर्जा के सम्बन्ध को स्थापित कर एक और नई दिशा प्रदान की।

इन सभी खोजों में 'तर्कशक्ति' एवं उनके प्रयोगों को ही आधार माना

गया । जिस तथ्य को प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया जा सकता था वही सत्य था । और जो प्रयोग की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता था वह सर्वथा मिथ्या था । इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने यहां तक कह डाला कि यदि 'भगवान' नाम का कोई तथ्य है तो उसे भी अपना अस्तित्व प्रमाणित करना पड़ेगा । अन्यथा भगवान की धारणा कपोल कल्पना अथवा सर्वथा मूर्खता की बात है । वैसे इस तरह की बात केवल इस नई सभ्यता के पाश्चात्य जगत् में ही नहीं कहीं गयी, अपितु हमारे यहां की भी अतीत कथाओं में ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध बोलते चरित्र है । रावण, कंस, और हिरण्यकश्यप आदि नाम इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है । वैसे ईश्वर है या नहीं— यह प्रासांगिक विषय नहीं किन्तु इतना तो सर्वविदित और सर्वसम्मत है कि कोई भी कार्य बिना 'बल' अर्थात् शक्ति के प्रयोग के नहीं होता इसलिए प्रकृति में हो रहा प्रत्येक कार्य किसी न किसी शक्ति द्वारा ही परिचालित है उसी परम शक्ति को यदि ईश्वर कहा तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होना चाहिए । जो भी हो, इन सभी विचारों में एक बात मूल रूप से धारा-प्रवाह की भांति रही कि भौतिक विज्ञान का आधार तर्क बल और प्रयोग हैं । दूसरे शब्दों में मानव पर बुद्धि (Mind) का ही प्रभुत्व है । फ्रेंच दार्शनिक रेनेडिस कार्टिज ने इसे ही सिद्धान्त का स्वरूप देते हुए कहा "I exist because I think" (मैं हूं क्योंकि मैं सोचता हूं) । फलस्वरूप बुद्धि का प्रभाव इतना बढ़ा कि 'मानव बुद्धि' मानव पर ही अधिकार करने लगी । इस तरह जिसकी बुद्धि तेज थी वह अन्य लोगों को अपने अधीन करने लगा ।मानव ही मानव का शोषण करने लगा । इसी कारण फ्रेंच की क्रान्ति ने स्वतन्त्रता (Liberty), समता (Equality), मैत्री भाव (Fraternity) प्रभृति नये विचारों को जन्म दिया ।

इस अवधि के पश्चात प्रारम्भ हुआ औद्योगिकरण युग । जिसमें श्रमिकों का शोषण खुले हाथों होने लगा । ऐसे में एड्म स्मिथ (Adam Smith) और केयेन्स (Keyenes) सरीखे दार्शनिकों को "अर्थ" के नये सिद्धान्त प्रतिपादित करने पड़े । इसी शोषण के प्रतिवाद में कम्युनिस्ट विचार का भी अभ्युदय हुआ । किन्तु इस विचारानुसार जब सम्पूर्ण अधिकार 'सरकार' के हाथों में चला गया तो शोषण और विषमता को समाप्त करने

वाली बातें जैसी की तैसी रह गयीं और आज यह विचार भी असफल सिद्ध हो रहा है।

सृष्टि के बारे में भी 'तर्कबल' और 'प्रयोग' के आधार पर ही कल्पनाएं की गईं। पहले सूर्य, फिर उससे टूटकर अलग हुई पृथ्वी। पृथ्वी का जो भाग गल गया वह जल और जो भाग केवल ठण्डा हुआ वह स्थल बन गया। जल से अमीबा और अमीबा से जीव जन्तु बने। फिर उससे वन-मानुष, आदिमानव और तब बना मानव। सारे अतीत की बातों को ताक पर रख दिया गया। पृथ्वी के किसी भी पुरातन दर्शन को स्वीकार ही नहीं किया गया। दुखद स्थिति तो यह रही कि जहां पाश्चात्य जगत इन विचारों पर विश्वास करता रहा वहीं हमारे देश के बुद्धिमान, विद्वान, इतिहासकार और राजनैतिकों ने भी उसी को सत्य मान लिया। अपने अतीत में झांकने की कभी कोशिश ही नहीं की। प्रगति के नाम पर अपने सत्य को कोरी कल्पना माना और पाश्चात्य विचारों के अनुगामी बन गये और अपने पर गर्व किया। प्राकृतिक नियमानुसार समय ने फिर करवट लिया है। अब यह आभास होने लगा है कि उपरोक्त सभी पाश्चात्य विचारों में कहीं न कहीं कमी अवश्य है। इसलिये न केवल साम्यवादी विचार वरन् सम्पूर्ण पाश्चात्य विचार-दर्शन पर पुनर्विचार की स्थिति निर्मित होने लगी है।

इन सभी स्थितियों पर यदि विचार किया जाय तो निम्न बातें खुलकर सामने आती हैं :—

(१) इन सभी विचारों में धर्म (मानव प्रकृति) को कोई स्थान नहीं दिया गया अपितु उसके प्रतिवाद में ही सारी बातें सोची गईं और की गईं।

(२) इन सब विचारों में बुद्धि का प्रभुत्व रहा। जिसके कारण तर्क बल और प्रयोग ही आधार माने गये।

(३) प्रकृति के रहस्यों को जानने की कोशिश की गई किन्तु उसकी शक्ति के रहस्यों को न तो समझा गया और न ही उस दिशा में ठोस विचार ही

किया गया।

हिन्दू-दर्शन :

भारत एक पुरातन राष्ट्र है। हमें अपने इतिहास का पूरा ज्ञान नहीं किन्तु आभास अवश्य है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में

"यद्यपि हमें इतिहास अपना प्राप्त पूरा है नहीं
हम कौन थे, यह ज्ञान तो फिर भी अधूरा है नहीं"

हमारे यहां सृष्टि, मानव एवं अन्य सभी बातों का विचार प्रारम्भ से ही हुआ है। जिसमें आज भी अकाट्य तर्क उपस्थित हैं। यजुर्वेद के अध्याय ५ के १५ वें मन्त्र के अनुसार

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम समूढ़स्थ पाऽत्कसुरे स्वाहा" (ईश्वर जगत को रचता हुआ तीन प्रकार के स्वरूप धारण करता है)

प्रकाशवान—सूर्यादि, प्रकाशरहित— पृथ्वी और अदृश्य— परमाणु आदि। इन तीनों में जो अदृश्य भाग परमाणु है वह प्रकाश के रूप में सूर्य में, औषधि के रूप में पृथ्वी एवं खान में उपस्थित रहता है। ईश्वर अपनी इसी रचना को अन्तरिक्ष में स्थापित करता है जिसे सृष्टि कहते हैं। कण या परमाणु के बारे में हमारे मनीषी ऋषि कणादि ने तो पहले ही बताया था। बाद में पाश्चात्य जगत के वैज्ञानिक जॉन डाल्टन ने भी अपने परमाणुवाद के सिद्धान्त में किसी न किसी रूप में इस तथ्य को स्वीकार किया।

इसी प्रकार सृष्टि की रचना में जड़ और चेतन का विचार किया गया है। श्रीमद्‌भागवत गीता में जिसका उल्लेख निम्न प्रकार है :—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्नभिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ (अध्याय ७, श्लोक ४ एवं ५)

अर्थात जड़ प्रकृति आठ हैं— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश मन, बुद्धि और अहंकार। चेतन प्रकृति—जीवरूपा अर्थात् जीवात्मा है, जो

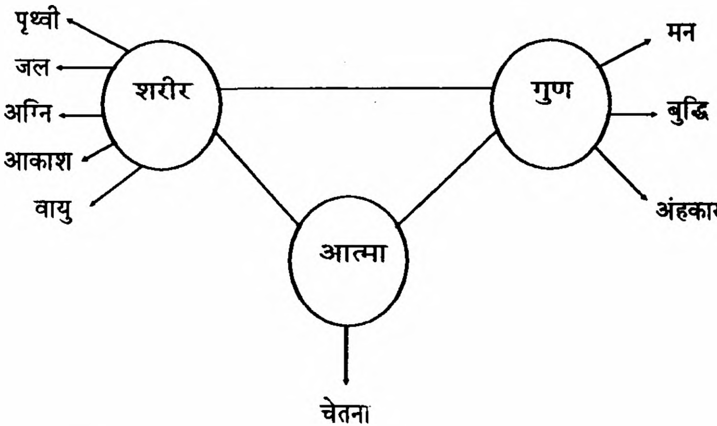

सृष्टि-रचना के प्रत्येक कण, प्रकृति या तथाकथित समस्त जीव में विद्यमान है। ऐसे ही मानव शरीर के बारे में कहा गया है कि यह पचंतत्व द्वारा रचित किया गया है।

"क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर।
पञ्चतत्त्व यह अधम शरीर।"

अर्थात आठ जड़ प्रकृति में से पांच द्वारा शरीर, तीन द्वारा उसके गुण और चेतन प्रकृति से उसकी आत्मा रचित है।

इसी प्रकार सृष्टि के अन्य सभी पदार्थों, जीव-जन्तुओं आदि की रचना

के बारे में भी विचार किया गया है । यह माना गया कि आकाश (अन्तरिक्ष) एक विराट प्रयोगशाला है । जल और अग्नि का आपसी संयोग पवन (वायु) की विभिन्न गतियों के कारण विभिन्न प्रकार से होता है जिससे भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ, जीव-जन्तु आदि का निर्माण होता है । किन्तु ईश्वर जीवात्मा के रूप में सबमें विद्यमान है ।

इस प्रकार अब यह बात प्रमाणित होती है कि दुनिया में कुछ भी निर्जीव नहीं है । सर जगदीश चन्द्र बोस ने पेड़, पौधों में जीवात्मा की उपस्थिति को सिद्ध किया है । वर्तमान वैज्ञानिकों के लिये अभी भी यह रहस्य एवं खोज का विषय है कि सभी पदार्थों में जीव है । उनकी धारणा है कि सृष्टि में दो प्रकार की रचना है— सजीव और निर्जीव । किन्तु हमारे यहां निर्जीव की कल्पना ही नहीं है । इसीलिये गंगा नदी को गंगा मैया, वन को वनदेवता, हिमालय को देवात्मा, कहते है । इसी प्रकार पवन, अग्नि, पृथ्वी आदि सब में सजीव रूप से देवत्व की कल्पना की गई है ।

समस्त योनियों में अर्थात रचना में मनुष्य को सर्वोत्तम कहा गया । उसके लिये यह तर्क दिया गया कि वह न केवल पूर्वजन्म के कर्मफल को भोगता है अपितु नये कर्म भी करने की शक्ति रखता है क्योंकि उसके गुण रूप में मन, बुद्धि और अहंकार है । इसे छोड़ कर सृष्टि की समस्त रचना केवल पूर्व जन्म के कर्मफल को भोगने के लिये विद्यमान रहती है और वह कर्मफल-भोग समाप्त होते ही उनका लोप हो जाता है ।

मानव प्रकृति

पश्चात्य विचार :— वैज्ञानिकों के मतानुसार मानव शरीर विभिन्न कोशिकाओं द्वारा निर्मित है । मूलरूप से कार्बन सभी में विद्यमान है । श्वसन क्रिया में वायु से ग्रहण की गयी आक्सीजन द्वारा ह्रदय-गति चलती है, रक्त शुद्ध होता है । और शुद्ध रक्त हृदय गति द्वारा शरीर की विभिन्न नलिकाओं में सम्प्रेषित होकर शरीर को शक्तिमान और गतिमान रखता है । फिर वही आक्सीजन शरीर में उपस्थित कार्बन से संयोग करके कार्बन डायआक्साइड के रूप में बाहर आ जाता है । भोजन से भी मानव शरीर

को ऊर्जा तथा शक्ति प्राप्त होती है।

इस शरीर में ज्ञानेन्द्रियां होती हैं जिनका सम्बन्ध मानव मस्तिष्क की बुद्धि से रहता है। इसी बुद्धि के कारण मानव अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष तथा आनन्द के लिये भोग की ओर उन्मुख होता है। अब यह बात तो ठीक ही है कि संघर्ष और उपभोग के लिये बुद्धि की आवश्यकता है। इसी बुद्धि की तीव्रता एवं सूक्ष्मता के उपभोग को ही यदि वर्तमान वैज्ञानिक 'सोच' कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

अब इसे सत्य माना जाय तो आनन्द का आधार उपभोग है। उपभोग से भोगवाद की (consumerism) कल्पना साकार होती है। जहां भी भोगवाद प्रबल होगा वहां अर्थ का अधिकाधिक अर्जन एवं संचयन ही प्रत्येक व्यक्ति का प्रिय लक्ष्य होगा। अर्थात् मानव जीवन का उद्देश्य जो बात बुद्धि को अच्छी लगे वही करना है। चूंकि बुद्धि का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियों से है। इसी लिये उसे भौतिक पदार्थों से ही अधिक आनन्द की अनुभूति होगी। अतः मानव भौतिक सुख के लिये जीता है और संघर्ष करता है। भौतिक सुखों की प्राप्ति ही उसे आनन्द प्रदान करती है।

हिन्दू विचार :— प्रारम्भ में ही कहा गया है कि मानव शरीर की रचना पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश के संयोग से हुई है। ये सभी जड़-प्रकृति ही हैं और इसके गुण के रूप में अन्य जड़ प्रकृति अर्थात मन, बुद्धि और अहंकार इसमें विद्यमान रहते हैं। इन दोनों भागों के बीच में चेतना प्रकृति आत्मा के रूप में विद्यमान है। यह आत्मा शरीर की समस्त गतिविधियों की साक्षी है। जड़ प्रकृति के कारण मन, बुद्धि और अहंकार का सृष्टि के जड़ पदार्थों के उपभोग की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक है। मन का आकर्षण केन्द्र शब्द, स्पर्श, रस रूप और गंध है। यही बुद्धि को प्रभावित करती है और उसीसे अहंकार होता है। इसलिए उपभोग जनित भौतिक सुख प्राप्त करना भी स्वाभाविक है। अतः मूलरूप से भोगवादी (consumerism) वृत्ति का भी होना स्वाभाविक है। इसीलिये हिन्दू दर्शन में इससे मुक्ति के पथ पहले से ही बताये गये हैं।

इन्द्रियां प्रमथन स्वभाव की होती हैं। इसलिये यह बुद्धिमान पुरुष के मन-बुद्धि का बलात् अपहरण कर लेती हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपिश्चतः। (श्री मद्भागवत गीता
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ अध्याय २, श्लोक ६०)

इन इन्द्रियों के विषय वस्तु शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध हैं। और इनके प्रति उत्पन्न आसक्ति-भाव ही मनुष्य को भोगवादी बना देता है। इसलिये मनुष्य में विषयासक्ति उसके प्राकृतिक गुण के कारण ही है। प्रत्येक मनुष्य में तीन प्रकृति-प्रदत्त गुण हैं— सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। सत्वगुण निर्मल विकार रहित है। रजोगुण कामना और आसक्ति को उत्पन्न करता है। तमोगुण आलस्यता प्रदान करता है। इसलिये इन्द्रिय सुख अर्थात भौतिक सुख के मूलरूप जैसे प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियां और उनकी विषय-वस्तु हैं वैसे ही इनमें गतिशीलता रजोगुण के कारण ही होता है। इसलिये इन इन्द्रियों पर नियंत्रण आवश्यक हैं। अन्यथा भौतिक सुख प्राप्त करने में न केवल शरीर का क्षय वरन् आत्मबल का भी क्षय होता है। इस पर नियन्त्रण योगाभ्यास द्वारा ही हो सकता है। यही योगाभ्यास आत्मशक्ति को प्रबल करने में सहायक होता है। इसलिये आवश्यक है कि आसक्ति और विषय-वासना की ओर से मन को मोड़कर अध्यात्म की ओर ले जाया जाय। इस चिरातन, पुरातन, और सनातन धारणा को 'धर्म' के नाम से व्याख्यायित किया गया है। 'धर्म' शब्द के समतुल्य (और समानार्थी) शब्द अन्य किसी भी भाषा में नहीं है। जो भी हो इसी धर्म के आधार पर इन इन्द्रियों को नियन्त्रित किया जा सकता है। अन्यथा मानव जीवन का कोई उपयोग नहीं हो सकता। चूंकि अन्य जीवों के समान मानव केवल पूर्वजन्म के कर्मफल भोगने के लिये ही नहीं, अपितु कुछ करने के लिये भी आया है, इसलिये हिन्दू दर्शन में मानव जीवन की वास्तविक सफलता के लिये चार पुरुषार्थ बताये गये हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अर्थात् धर्म द्वारा अज्ञानता को दूर करना। अज्ञानता (IGNORANCE) अर्थात् इस सृष्टि की रचना के भ्रमात्मक स्वरूप को न समझ पाना। इसी अज्ञानता को माया भी कहा

गया है । इसलिए इस दुनिया को मायानगरी भी कहा गया है ।

सृष्टि, मानव तथा प्रकृति के बारे में पाश्चात्य दार्शनिकों ने केवल देखने (Appearance) के आधार पर निर्णय लिया । केवल देखकर लिया गया निर्णय, सही निर्णय (Right Judgement) नहीं हो सकता । इसे केवल अस्थायी निर्णय (Adhot Judgement) या परिस्थितिजन्य निर्णय (Situational Judgement) ही कहा जा सकता है । इस प्रकार पाश्चात्य वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों के द्वारा सृष्टि, मानव और प्रकृति के सम्बन्ध में लिया गया निर्णय सही निर्णय (Right Judgement) मानने में संशय की गुञ्जाइश को नकारा नहीं जा सकता । धर्म अर्थात सत्यज्ञान को धारण करना । इस सत्य ज्ञान के कारण ही मानव अपने स्वभाव और अपने कर्म पर नियन्त्रण रख सकता है । इसी लिये कर्म और अकर्म की व्याख्या की गई है । इस पुरुषार्थ के कारण हम न केवल अपने को अपितु समस्त सृष्टि को सुख दे सकते हैं । इसके आधार पर ही हमें ज्ञात होता है कि हमें केवल व्यक्तिगत सुख के लिये ही नहीं बल्कि परिवार, समाज, देश और समस्त सृष्टि के सुख के लिये जीना है । मानव के सभी अंग जैसे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, एक को कष्ट होने से पूरे शरीर को कष्ट होता है, ठीक वैसे ही सृष्टि की समूची रचना एक दूसरे से जुड़ी हुई है । किसी एक को कष्ट देना सृष्टि को कष्ट देना है । यही ज्ञान ही वास्तविक धर्म है और इसी के अनुकूल किया गया कर्म धार्मिक कर्म है । इसी को पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ने "एकात्ममानववाद" के रूप में व्यक्त किया है ।

इस तरह पाश्चात्य विचारानुसार जहां भौतिक सुख प्रधान है (जो कि सम्पूर्ण रूप से व्यक्तिगत सुख का द्योतक है) वहीं हिन्दू दर्शन में आध्यात्मिक सुख को वास्तविक सुख कहा गया है । अर्थात प्रत्येक जीव स्वयं जिये और दूसरे जीवों को भी आनन्दपूर्वक जीने दे । Live and let live. यही कारण है कि गौतम बुद्ध को दूसरे के कष्ट में स्वयं कष्ट का अनुभव हुआ ।

इस तरह यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि मानव जीवन का लक्ष्य

भौतिक सुख नहीं बल्कि आत्मसुख है। यह प्रसन्नता की बात है कि आज विश्व में प्राकृतिक सन्तुलन के नाम पर वन्य जीवों तथा वनस्पतियों की रक्षा और संरक्षण की बात गम्भीरता से सोची जा रही है। इस तरह हिन्दू दर्शन द्वारा प्रदत्त मानव जीवन के लक्ष्य की सत्यता अब स्वयमेव ही तर्कयुक्त प्रमाणित होने लगी है।

अर्थ और मानव

पाश्चात्य दृष्टिकोण : अर्थ के सम्बन्ध में कई विद्वानों ने बहुत ही तर्क संगत विचार प्रस्तुत किया है। सभी विचार चाहे वे पाश्चात्य हों या भारतीय सब में एक तथ्य अवश्य उजागर होता है— वह है— प्रत्येक मनुष्य में उपभोग की प्रवृत्ति की अवश्यम्भाव्यता। मनुष्य मूल रूप से भोग की आकांक्षा करता है इसलिए मानव मूलरूप से भोगवादी है।

इस भोग की प्रचेष्टा में 'अर्थ' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।इसीलिये 'अर्थ' के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने समय-समय पर भिन्न-भिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी समाज या राष्ट्र का अंग है। इसलिये प्रत्येक देश में उसकी स्थिति के अनुसार अर्थव्यवस्था के विभिन्न रूप दिये गये है। अनेक मतों और पंथों का भी उपयोग किया गया है। दुखद स्थिति यह है कि वर्तमान समय में न तो अपने देश ने और न ही दूसरे किसी देश ने हिन्दू दर्शन के आधार पर व्याख्यायित अर्थनैतिक सिद्धान्तों का उपयोग किया। पाश्चात्य विचारों का ही प्रभाव दुनिया के प्रायः सभी देशों में है। इसी के आधार पर अब तक निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये समझे जा सकते हैं।

(१) पूंजीवाद,(२) समाजवाद,(३) साम्यवाद।

किन्तु इन सभी वादों में मानव के भौतिक सुखों की कल्पना को ही आधार माना गया है। 'वादों' के इस चक्कर में मानव को कई समूहों में विभक्त कर एक दूसरे से बचने के उपाय भी बताये गये हैं। इन सिद्धान्तों के प्रतिपादक निश्चित रूप से ही विद्वान रहे हैं और उनके प्रयास भी

निर्विवाद रूप से सराहनीय और सामयिक रहे हैं। अतः यहां इनकी विवेचना की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कोई भी वाद वर्तमान युग में समय की कसौटी पर खरा नहीं उतर पाया। इसलिये अब यह समझा जाने लगा है कि वर्तमान काल में विशुद्ध अर्थनैतिक सिद्धान्त का अभाव है।

हाल ही में "डेनियल बेल" ने एक पुस्तक सम्पादित की जिसका नाम "Crisis in Economic Theory" रखा है। पूंजीवाद, समाजवाद या साम्यवाद सभी असफल सिद्ध हो रहे हैं। रूस के श्री गोर्वाचेव ने तो ईमानदारी से यहां तक कह दिया कि "हमारे विचारों (अर्थात साम्यवादी विचारों) के अनुगामी मत बनो।"

भारतीय दृष्टिकोण

हमारा देश चूंकि पाश्चात्य-नकल पर ही चलता रहा इसलिये समय-समय पर हिन्दू दर्शन के आधार पर विद्वानों द्वारा कही गयी बातों की उपेक्षा की गई। इस सन्दर्भ में विष्णु बुआ ब्रह्मचारी, दादा भाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, आर.सी. दत्त, डा. अम्बेडकर, गांधी जी और पण्डित दीनदयाल उपाध्याय प्रभृति विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उक्त विचारकों के विचारों की उपेक्षा कर हमारा देश पश्चिमी देशों के नक्शे कदम पर चलते हुए जिन आर्थिक सिद्धान्तों को लेकर चल रहा है उससे हम न केवल दिवालियेपन की ओर अग्रसित हुए अपितु आर्थिक गुलामी के शिकंजों में भी द्रुत गति से जकड़ दिये गये हैं। सरकार की आर्थिक नीतियों ने तो हमारे स्वाभिमान की नींव को ही हिला दिया। वर्तमान सरकार के सन्दर्भ में तो अन्धों के लिये भी यह बात साफ है।

हमारे पास कुछ भी नहीं किन्तु दो बड़ी पूंजी है। वह है "स्वाभिमान" और "आत्मबल"। हमें इसी आधार पर विचार करना होगा। इसके अलावा भी हमारे पास इस दिशा में नीतियों का अभाव नहीं, आवश्यकता है उन्हें पुनःस्मरण करने की, ताकि हम उन्हें प्रयोगात्मक रूप दे सकें। उद्देश्य किसी को नीचा दिखाना नहीं बल्कि सही दिशा में प्रयास करना

है। इसलिये आज देश के स्वाभिमानी विद्वानों के लिये गीता के निम्न श्लोक एक प्रकार को चुनौती दे रहे हैं।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्तिश्च कीर्षलोंक संग्रहम् ॥२५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥ (अध्याय३)

'कर्म' में आसक्त हुए 'अज्ञानीजन' जिस प्रकार 'कर्म' करते हैं, 'आसक्ति रहित' विद्वान भी 'लोक कल्याण' चाहता हुआ उसी प्रकार 'कर्म' करे। परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह शास्त्रविहित कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात कर्मों से अश्रद्धा उत्पन्न न करें, वरन् स्वयं ही शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभांति करता हुआ उनसे वैसा ही करवाए। अर्थात् आज केवल ज्ञान या उपदेश नहीं अपितु कर्मों द्वारा भी अपने विचारों को सिद्ध करने की आवश्यकता है। सिद्धान्त को प्रयोगात्मक रूप देने की भी आवश्यकता है। एक पहले से पड़ी रेखा को (बीरबल के दृष्टान्त अनुसार) बिना काटे-छांटे छोटी दिखाने के लिये उसके पार्श्व में एक बड़ी रेखा खींच देनी चाहिए। आज के वैज्ञानिक वातावरण में लोग उसी बात को स्वीकार करेंगे जो प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो। हमारा दर्शन तो नया दर्शन नहीं है किन्तु सिद्धान्तों, मतों के वर्चस्व और प्रयोगों के अभाव के कारण ही इसे कोरी कल्पना की संज्ञा दे आकर्षणहीन मान लिया गया।

अब प्रश्न उठता है कि किसी भी अर्थनैतिक सिद्धान्त के लिये क्या जानना या क्या करना आवश्यक है जिसे हम 'नई सोच' कहकर अभिहीत कर सकें ? हमारे देश के लिये अपने (हिन्दू) दर्शन के आधार पर निश्चित (या निर्मित) की गई सोच निश्चय ही दुनिया के लिये नई बात होगी।

मानव प्रकृति के बारे में जो कुछ संक्षिप्त विवरण अब तक दिया गया उसके आधार पर निम्न तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है:—

(१) मानव स्वभाव से भोगवादी है क्योंकि उसकी इन्द्रियां प्रमथन स्वभाव वाली और मन बड़ी चंचल होती हैं। मन से परे बुद्धि और उससे परे आत्मा है। प्रमथन प्रकृति वाली इन्द्रियां और चंचल मन बुद्धि को प्रभावित कर उसे भौतिक सुख की ओर मोड़ देते हैं। इसलिये बुद्धि पर आत्मा का प्रभाव क्षीण हो जाता है।

(२) भौतिक सुख में भोग ही आधार बिन्दु है। भोग की इच्छा जितनी प्रबल होती है व्यक्ति उतना ही व्यक्तिवादी बनता है। अर्थात् धीरे-धीरे वह परिवार से, समाज से, राष्ट्र से एवं सम्पूर्ण मानवता से अलग हो जाता है।

(३) भोगवाद जितना प्रबल होगा, भ्रष्टाचार, उतना ही प्रबल होगा। इनमें चोली-दामन का सा साथ है और तीव्रता या गहनता में ये एक दूसरे के पूरक हैं।

(४) अर्थनीति के बारे में कुछ दिशा निर्देश तो हो सकते हैं किन्तु कोई निश्चित सिद्धान्त सबके लिये समान रूप से कार्यकारी नहीं हो सकता।

(५) राष्ट्रवाद के आधार पर इस समस्या का समाधान एक निश्चित सीमा तक हो सकता है किन्तु केवल राष्ट्रवाद भी दूसरे का शोषण कर सकता है। यह सभी के लिये समरूप भी नहीं हो सकता।

इसके अलावा हमें यह भी जानना आवश्यक है कि इस समस्या की दृष्टि से हमारे देश की स्थिति क्या है और वह किस कगार पर खड़ा है ?

अर्थनीति की दिशाएं :

उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर हम जो भी निष्कर्ष निकालें, वह सम्पूर्ण मानव जगत के लिये लाभकारी तो हो ही सकते हैं साथ ही अपने देश के लिये भी हितकारी बन सकते हैं। वास्तविक स्थिति के ज्ञान से अपनी राष्ट्रीय समस्याओं का भी सटीक रूप से हल हो सके, इसलिये यह आवश्यक है कि इस समस्या के समाधान का प्रयास हम दो रूपों में करें:

(१) सम्पूर्ण मानव जगत के लिए (२) स्वदेश के लिए।

सम्पूर्ण मानव जगत के लिए :

जब यह विचार आता है कि मानव जीवन में अर्थ का प्रयोजन है तो साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि स्वयं मानव का प्रयोजन क्या है। वह क्यों और किस कार्य के लिये जन्म लेता है ? सृष्टि में कुछ भी व्यर्थ नहीं। सभी का अस्तित्व किसी न किसी प्रयोजन के लिये है। प्रत्येक निर्माता, उत्पादनकर्त्ता अपने निर्माण, उत्पादन को अपने समान ही देखना चाहता है। (Every creator wonts his creation to be alike him). इसलिये कहते हैं कि कलाकार की झलक उसकी कला में मिलती है। हम जानते हैं कि हर पिता अपने पुत्र को अपने समान या अपने से भी ऊंचा देखना चाहता है। प्रश्न उठता है आखिर क्यों उसकी ऐसी इच्छा होती है ? यदि यह विचार करें तो यह बात साफ जाहिर होती है कि पिता को यह अभिमान रहता है कि उसने ही अपने पुत्र को जन्म दिया है। अतः वह (पिता) उसे (पुत्र को) अपने समान ही देखना चाहता है। यदि यह बात सत्य है तो सृष्टि को रचने वाले ईश्वर हो या प्रकृति या कोई अन्य शक्ति, वह भी यह अवश्य चाहेगा कि जो कुछ भी उसने सृष्टि में जना है, रचा है, वह उसके समान हो, उसके जैसा आचरण करे। कहने का अभिप्राय यह है कि इसी तथ्य में मानव के अस्तित्व के प्रयोजन का उत्तर है।

> कस्त्वां युनक्ति स त्वो युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै
> त्वा युनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ (यजुर्वेद, अध्याय १, मंत्र ६)

उपरोक्त मन्त्र में प्रश्न और उत्तर साथ-साथ हैं और इसी से मनुष्य के प्रयोजन की भी बात स्पष्ट है। अर्थ देखें :— (१) कौन सत्य कर्म करने की प्रेरणा देता है ?— प्रजापति अर्थात् ईश्वर अर्थात सृष्टिकर्त्ता। (२) कौन विद्या धर्म प्राप्त करने की आज्ञा देता है ?— प्रजापति अर्थात् ईश्वर अर्थात् सृष्टिकर्ता (३) किस प्रयोजन के लिये आज्ञा देता है ?— सुख और सुख स्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति के लिये अर्थात् सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए एकात्म हो जाने के लिए। अब इन प्रश्नों और उत्तरों में वास्तव में मनुष्य जीवन के प्रयोजन का तार्किक एवं प्रयोग सिद्ध उत्तर मिलता है। सत्यकर्म अर्थात् पुरुषार्थ। यह किसलिये ? तो जीवन के वास्तविक सुख

की प्राप्ति के लिए। वास्तविक सुख क्या है ? तो सृष्टि के स्वरूप अर्थात ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त करना अर्थात पिता के समान बनना अर्थात आत्मा को परमात्मा के साथ मिलाना। इस तरह आत्म सुख ही वास्तविक सुख है। उसी प्रकार यह सत्य कर्म या सत्य सुरग (स्वर्ग) कैसे प्राप्त होगा तो सत्य विद्या द्वारा या सत्य विद्या प्रचार द्वारा अर्थात् धर्म करना और कराना। इसी से मानव-जीवन के चारों पुरुषार्थ उजागर होते हैं। सत्य विद्या प्रचार करना या प्राप्त करना अर्थात् 'धर्म-पुरुषार्थ' ज्ञान प्राप्त करना। धर्म के आधार पर कर्म करना अर्थात अर्थोपार्जन करना अर्थात 'अर्थ पुरुषार्थ'। अर्थ प्राप्ति सुख के लिए करना अर्थात् 'काम पुरुषार्थ'। इन तीनों पुरुषार्थ को प्राप्त करने वाले ही को 'मोक्ष पुरुषार्थ' का अधिकारी कहा गया।

इस मंत्र से यह भी संकेत मिलता है कि मनुष्यों को तीन प्रयोजनों में प्रवृत होना चाहिए। पहला, अत्यन्त पुरुषार्थ और शरीर की आरोग्यता से चक्रवर्ती राज्य लक्ष्मी (अर्थ) को प्राप्त करना। दूसरा, सभी विद्याओं को भली भांति पढ़कर उनका अच्छी तरह प्रचार करना (धर्म) और तीसरा, आलस्य को छोड़कर पुरुषार्थ से जीना (कर्म)। इसी आशय के समकक्ष श्री मद्‌भागवत गीता में भी संकेत हैं।

"न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ (अध्याय ३, श्लोक २२)

श्री कृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन ! मेरा इन तीन लोकों में न कोई कर्तव्य है और न कुछ भी प्राप्त करने योग्य अप्राप्त है तो भी मैं कर्म करता हूं। क्यों करता हूं।......

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ (अध्याय ३, श्लोक २३)

(क्योंकि) यदि सावधानी पूर्वक मैं कार्य न करूं तो मनुष्य भी कार्य नहीं करेंगे क्योंकि वे मेरे द्वारा अपनाये गये मार्ग का ही अनुसरण करेंगे (अर्थात पिता के समान ही पुत्र की कल्पना)।

अब इन बातों को ही संकेत माने तो मानव जीवन के प्रयोजन का बोध हो जाता है। और इसी में "अर्थ" के सिद्धान्त का भी संकेत मिलता है।

ऊपर लिखित वेद-मंत्र और श्लोकों में जिन तीन बातों का उल्लेख है वे इस प्रकार हैं :—

(क) सर्व विद्या प्राप्त करना और प्रचार करना अर्थात् "शिक्षा" या "धर्म" का ज्ञान।

(ख) पुरुषार्थ से जीतकर राजलक्ष्मी अर्थात् "अर्थ" प्राप्त करना।

(ग) आत्म सुख प्राप्त करना या आनन्द प्राप्त करना अर्थात् काम।

अब इन तीनों को यदि सत्य मानें तो अर्थ का सम्बन्ध पहले और तीसरे से समान रूप से है। इसलिये अर्थनीति की दिशायें निम्न प्रकार से हो सकती हैं :—

(१) शिक्षा प्राप्त करना अर्थात् अज्ञानता दूर करना। अज्ञानता दूर करना अर्थात सृष्टि के सम्बन्ध में सही बात ज्ञात करना, प्रचार करना और उसी के अनुसार आचरण करना अथवा व्यवहार करना। इसे ही धर्म कहा गया है। इसलिये इस धर्म का पालन करना और प्रचार करना।

(२) सृष्टि के सम्बन्ध में यदि सही ज्ञान प्राप्त होता है तो स्वाभाविक तौर पर प्रत्येक मनुष्य के ध्यान में यह बात आ जाती है कि वह इस दुनिया में अकेला नहीं है (Man is not outsiedeer)। सृष्टि के प्रत्येक कण के साथ उसका सम्बन्ध है। और वह सम्बन्ध बाह्य नहीं बल्कि आन्तरिक है। Every particle contains every other particle. इस तरह आइन्सटीन की बात भी सत्य हो जाती है और जब मनुष्य यह समझ लेगा कि सृष्टि एक बहुत बड़ा परिवार है और वह उसका एक अभिन्न अंग है तो स्वभावतः वह ऐसा कुछ नहीं करना चाहेगा जिससे दूसरे किसी अंग को कष्ट हो। अर्थात् "शोषण" और "विषमता" की बातें स्वयमेव ही उसके मस्तिष्क से समूल नष्ट हो जायेंगी।

(३) सृष्टि के प्रत्येक कण में केवल आपसी सम्बन्ध ही नहीं अपितु आकर्षण भी है। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम में इसी बात की अभिव्यक्ति इस प्रकार की गई है :— In universe, every particle attracts another particle. इस तरह सत्य ज्ञान से मानव का भी प्रकृति में आकर्षण बढ़ता है जिसे Wordsworth ने भी अपनी कविताओं में व्यक्त किया है।

(४) उपरोक्त ज्ञान द्वारा मनुष्य की जड़ता और भौतिक सुख की इच्छा लुप्त हो सकती है। जब तक उसे भौतिक सुख से विरत होकर सत्य आत्मिक सुख का ज्ञान नहीं होगा तब तक उसके अन्दर का दानव रूपी भोगवाद समाप्त नहीं होगा। जब तक भोगवाद या भौतिक सुख के कीटाणु उसके अन्दर जीवित रहेंगे तब तक वह 'अर्थ' का दुरुपयोग ही करेगा।

(५) अर्थ के सदुपयोग से मनुष्य 'मानव' रहता है और इसके दुरुपयोग से वह 'दानव' हो जाता है मानव और दानव के अन्तर के मूल में 'अर्थ' ही है। अर्थ ही आधार है इन दोनों वृत्तियों का। हिन्दू-दर्शन में आदि से ही इसी को आधार मानकर 'मानव' और 'दानव' की कथाएं हैं। इसलिये मनुष्य को पहले सही ज्ञान अर्जन कर मानव बनना है। और यह प्रथम आवश्यकता भी है।

(६) मानव को अपने पुरुषार्थ से धनोपार्जन करना है किन्तु इस धनोपार्जन की भी सीमा तयकर दी गई है। कबीर के शब्दों में :—

> "साईं इतना दीजै जामे कुटुम्ब समाय,
> मैं भी भूखा न रहूं, साधु न भूखा जाय।"

इसमें स्पष्ट संकेत है कि मानव द्वारा उतना ही धनोपार्जन करना चाहिए जितने से वह स्वयं अपने परिवार और समाज के अन्य साधुजन (सभ्यजन) की सेवा कर सके। चूंकि प्रत्येक मानव का संबंध पहले स्वयं से, फिर स्वपरिवार से, फिर स्वसमाज से, फिर स्वदेश से और फिर समस्त सृष्टि से (अर्थात विश्व से) समान रूप से है, उन सबके द्वारा समान रूप से उसका

पालन किया गया है, अतः उसके पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त वस्तुओं पर सबका अधिकार समान रूप से ही है उसे इतना ही धनोपार्जन करना है जितने से वह स्वयं भलीभांति (सुन्दर) जी कर दूसरों को भी भली-भांति जीने दे। जीओ और जीने दो (Live and let live) वाली बात भी इसीलिये कही गयी है। कमाने वाले पुरुषार्थी को त्यागी अर्थात् दानशील बनने की शिक्षा दी गयी है। आवश्यकता से अधिक कमाई को चोरी (Act of theft) की संज्ञा दी गयी है।

(७) इस सम्बन्ध में सरकार अर्थात राजा को दिशा निर्देश दिया गया है।

> उपावीरस्युप देवान्दैवीर्विशः प्रागुं रुशि जो वह्नितमान्।
> देव त्वष्टर्वसुं रम हव्या ते स्वदन्ताम्॥ (यजुर्वेद अध्याय ६, मंत्र ७)

अर्थात राजा को कहा गया है कि जैसे वह प्रजा के पदार्थों को भोगता है वैसे ही वह प्रजा को भोगने योग्य अमूल्य पदार्थों को भोगने दे।

राजा को 'कर' लगाकर प्रजा को दुःखी नहीं करना चाहिए अपितु उन 'करों' द्वारा वह सबको सुख पहुंचाए। आज के युग जैसा नहीं कि प्रजातन्त्र के नाम पर राज्य चलाने वाले मंत्री और अधिकारी स्वयं तो राज्य-सुख भोगें और साधारण प्रजा को दो जून की रोटी भी न दे सकें।

(८) स्वामी अरविन्द के शब्दों में अर्थ का उद्देश्य केवल उत्पादन या धनोपार्जन ही नहीं अपितु समस्त मानव को सभी प्रकार से पूर्ण आनन्द देना है।

(९) रोजगार (Employment) के बारे में भी संकेत है कि सरकार, समाज या स्वयं मानव किस-किस प्रकार का रोजगार या कर्म करे। कहा गया कि प्रत्येक मनुष्य को उसके स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार ही कर्म करना चाहिये। श्रीमद्भागवत गीता में इसका उल्लेख निम्न प्रकार से है :—

"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम" (अध्याय १८, श्लोक ४७)

अच्छी तरह से आचरण किया हुआ गुणरहित अपना धर्म भी दूसरे के धर्म से श्रेष्ठ है। क्योंकि 'स्वभाव' से नियत किये हुए स्वधर्म रूप कार्य को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को धनोपार्जन के लिये 'रोजगार' भी अपने स्वभाव के अनुसार करना अथवा करने देना चाहिए।

(१०) उपरोक्त तथ्य से योजना (Planning) के बारे में भी संकेत मिलता है। सरकारी योजनाओं का आधार मानव के धर्म, आचरण और स्वभाव के आधार पर ही होना चाहिए।

(११) धर्माचरण से यह बात स्वयं व्यवहार में आ सकती है कि जहां लाखों लोग भूखे हों, वहां विलासिता के नाम पर फिजूल खर्ची न किया जाय।

(१२) अधिकाधिक उत्पादन का न्याय संगत वितरण भी आवश्यक है।

(१३) उसी प्रकार अधिकाधिक अर्जन का भी न्याय संगत वितरण होना चाहिए।

(१४) उद्योगपतियों द्वारा नियोजित धन तथा श्रमिकों द्वारा नियोजित श्रम का समान मूल्य होना चाहिए।

(१५) भौतिक सुखों की उपेक्षा से ही शोषण, विषमता और भ्रष्टाचार से मुक्ति मिल सकती है।

(१६) व्यापार में सत्यआचरण और सत्य प्रतिज्ञा के आधार पर लेन-देन होना चाहिए।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च
हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहां॥ (यजुर्वदे, अध्याय ३, मंत्र ५०)

अर्थात् लेन-देन में सत्याचरण और सत्य प्रतिज्ञा होनी चाहिए।

(१७) एकात्म बोध ही मानव को भौतिक सुखों की ओर से मोड़कर आत्मिक सुख की ओर ले जा सकता है। इसलिये जो प्रथम और परमावश्यक कार्य किसी भी देश और समाज के लिए है, वह है, 'उचित शिक्षा' (Proper Education)। अब उचित शिक्षा देने का काम कभी भी केवल सरकार के भरोसे नहीं चल सकता। यह कार्य तो विद्वान तथा समाज सेवी संगठनों द्वारा ही संभव है।

(१८) इन बिन्दुओं से एक और तथ्य उजागर होता है :—

भोगवाद और भ्रष्टाचार सदैव ही राष्ट्रवाद और मानवतावाद के विलोमानुपाती है।

अर्थात,

भोगवादी (समानुपाती) भ्रष्टाचार

भोगवाद और भ्रष्टाचार (विलोमानुपाती) ————|————

राष्ट्रवाद और मानवतावाद

इस तरह दिशा-निर्देश के लिये और भी तथ्य सोचे जा सकते हैं किन्तु मौलिक आधार बिन्दु है—'मानवता' ही (या मानवता ही आधार बिन्दु होना चाहिए)। अतः मानवतावादी अर्थ नीति ही वास्तविक नीति है। इसकी प्राप्ति के लिए उचित शिक्षा और समरस वातारण का होना आवश्यक है। जब तक मनुष्य को सही ज्ञान नहीं होगा तब तक न तो उसके जीवन का सटीक लक्ष्य निर्धारित होगा और न ही वैज्ञानिक अर्थनीतिक ज्ञान की अवधारणा स्पष्ट हो पाएगी।

स्वदेशी अर्थनैतिक दिशाएं :

अपने देश की अर्थनीतियों और उनकी दिशाओं पर विचार करने के पहले यह जानकारी आवश्यक है कि इस दृष्टि से

हम कहां है और हमारी स्थिति कैसी है ?

यह तो सर्वविदित है कि हमारी आर्थिक स्थिति चरमरा गयी है। एक समय का सम्पूर्ण वैभवशाली राष्ट्र आज दुनिया के सामने भिखारी बना खड़ा है। पाश्चात्य अनुकरण की प्रवृत्ति ने हमें में इतना अन्धा बना दिया कि हमारी सब प्रकार की राष्ट्रीय सम्पदा और अतीत की गौरवमयी संस्कृति की उपस्थिति के बावजूद हम दिवालियेपन की ओर बढ़ते गये। हमने केवल बाहरी चमक-दमक ही देखने में वास्तविक प्रगति मानी और उसी में वास्तविक सुखानुभूति की। पूर्णरूपेण भौतिक सुखों के अभ्यस्त बन गये।

अक्सर बड़े-बूढों को यह कहते सुना जाता है कि इस स्वराज्य से अच्छी तो वह गुलामी (अंग्रेजों की अधीनता) ही थी जिसमें न तो इतनी मंहगाई थी और न ही बेकारी। किसी भी प्रकार से सभी सुखपूर्वक जी लेते थे। इन उद्‌गारों में सच्चाई का पुट तो है ही, विडम्बना ज्यादा है। राष्ट्रीयता बोध शून्य है। दूसरी ओर राष्ट्र के कर्णधारों की जुबान पर है कि पहले की तुलना में आबादी में हठात् वृद्धि हो जाने के कारण हम आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गये हैं। अत्यधिक आबादी के कारण ही हम सभी को भोजन, वस्त्र और निवास (जो राष्ट्र की जनता के प्रति परमावश्यक दायित्व है) नहीं दे पाये।

तर्क-वितर्क से परे यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि हम आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हैं। दुनिया के नक्शे में हम विकासशील देश या पिछड़े देशों के वर्ग में हैं। १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हम पिछड़ते ही रहे हैं जबकि हमारे बाद या थोड़े वर्षों पूर्व स्वतन्त्र होने वाले राष्ट्र या तो अति विकसित (Fully developed) या विकसित (Developed) हैं अथवा इस दौड़ में हमसे आगे निकल गये हैं। प्रश्न खड़ा होता है कि आखिर हमारी ऐसी स्थिति क्यों बनी ? यदि कारणों का अन्वेषण करें तो कई-कई कारण निकाले-बताये जा सकते हैं किन्तु उनका विशद उल्लेख यहां आवश्यक नहीं। यहां उन्हीं कारणों का उल्लेख किया जाना आवश्यक हैं जो हमारी आर्थिक नीतियों के दिशा-निर्देश में महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे कुछ कारण निम्न

है :—

(१) स्वतन्त्रता पूर्व हममें जितनी राष्ट्रीय भावना का बोध था, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारी यह चेतना उतनी ही दुर्बल बनती गयी। सच पूछा जाय तो राष्ट्रीय चेतना की उपेक्षा ही की गयी जबकि इसके बीज आज भी कुनमुना रहे हैं और अंकुरित होने को तत्पर हैं। इस उपेक्षा का ही परिणाम है कि आज का भारतवासी राष्ट्रवादी नहीं, सम्प्रदायवादी, जातिवादी और सर्वोपरि व्यक्तिवादी होकर रह गया है।

(२) पाश्चात्य-अनुकरण की प्रवृति की मुख्य भूमिका रही है। इसका मूल कारण यह रहा कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश-नेतृत्व का भार ऐसे लोगों के हाथ में पड़ा जो भारतीय चोले में विदेशी थे। पश्चिम की प्रत्येक बात, प्रत्येक काम को, वेद वाक्य समझा जाने लगा और अपने वास्तविक वेद वाक्यों को कपोल कल्पना की संज्ञा दी गयी। यह नकल नियोजित ढंग से हुई अथवा शीघ्र विकास के लिये अनजाने में हुई— यह विवाद का विषय है, किन्तु यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि इस अनुशीलन-कृत में सत्ता पक्ष के साथ-साथ विपक्ष के भी प्रायः सभी घटक जुटे रहे हैं। कांग्रेस समाजवाद का पर्याय बनी तो कम्युनिस्ट साम्यवाद की। किन्तु ध्यान दिया जाय तो ये सारी दौड़ें पश्चिमी-अन्धानुकरण की ही परिणिति सिद्ध होती हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि देश का भाग्य-पथ, निर्माण-पथ प्रशस्त करने वालों की एक बड़ी भीड़ 'नकल करने वाली' होकर रह गयी। यह एक बहुत बड़ा कारण है जिससे कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमें जितनी शीघ्रता से विकास करना चाहिए था उतनी ही द्रुत गति से हम पिछड़ कर रह गये।

(३) पश्चिमी नकल, उचित शिक्षा और राष्ट्रीय चेतना के अभाव में हम उपभोक्तावादी मानसिकता के शिकार हो गये। परिणामतः भोगवाद की ओर ही हम भी अग्रसर हुए। यह पहले भी विषद विवेचना में आ चुका है कि भोगवाद और भौतिक सुख की आकांक्षा में व्यक्ति न केवल राष्ट्र अपितु अपने समाज व परिवार से भी अलग हो जाता है। विलासिता

अथवा विलासिता के लिये सोच जनित थकान और आलस्य की भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि पहले वह अकेला हो जाता है और फिर इस अकेलेपन से घबड़ाकर कुछ भी कर बैठता है। कथित अतिविकसित राष्ट्रों और इसी श्रेणी के अन्य राष्ट्रों में 'ड्रग-सेवन' के अनेक कारणों में यह भी एक कारण है। हमारे यहां भी कथित (और मान्य भी) अग्रिम पंक्ति के लोग जैसे राजनेता और उनके परिवार, अधिसंख्य साधु और चिन्तक आदि सभी व्यक्तिगत भोग एवं विलास में जुट गये। साधारण जनता भी इससे अछूती कब तक बचती ? परिणाम स्पष्ट है हर व्यक्ति 'मान्य नेता' की भांति सम्भाषण करता है और व्यावहारिक रूप में भौतिक सुखों के साधन जुटाने का 'जुगाड़' करता है।

(४) भोग विलास एवं भौतिक सुख की प्राप्ति के लिये ही भ्रष्टाचार का अंकुरण होता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह भ्रष्टाचार ही धीरे-धीरे राष्ट्रीय चरित्र के रूप में उभरता गया है जैसे कि यह हमारे रक्त में मिला हुआ हो। किसी भी प्रकार से अर्थोपार्जन करना, विलासिता और भोग के लिये चरित्र को ताक पर रख देना आम बात हो गयी। विशेष रूप से प्रथम पंच वर्षीय योजना (१९५२-५७) से, (जिसमें लाइसेन्स, परमिट, कोटा का प्रावधान किया गया) भ्रष्टाचार ने अपनी जड़ें मजबूत की और आज राष्ट्रीय कोढ़ के रूप में अधिक से अधिक भारतीय को अपनी जकड़ में कसता जा रहा है। आश्चर्य की बात है कि इस भयानक रोग की चर्चा न तो महामहिम राष्ट्रपति की वाणी से हुई और न ही देश की सर्वोच्च संस्था 'संसद' के किसी अधिवेशन में इसकी गूंज सुनी गयी। फिर रोकथाम अथवा उपचार का प्रश्न ही नहीं है। किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है कि

License, permit and quota was introduced in our planning for

(i) Industrialist in order to (make) profit,

(ii) Civil servants in order to processing

(iii) Ministers in order to granting

and for all in order to become corruptionist.

(५) शिक्षा और योजना के नाम पर तो अरबों रुपये खर्च किये गये किन्तु उसे किस दिशा में करना चाहिए यह ठीक तौर पर निर्णय नहीं किया जा सका।

(६) हमारे देश में जन बाहुल्य है, अत्यधिक आबादी है। सभी योजनाओं में इसकी बात रहती है किन्तु उसके लिये उचित व्यवस्था नहीं ही रहती। यथा शीघ्र विकासशील होने की होड़ में समस्याओं का वास्तविक समाधान पीछे रह जाता है। इसलिये २१ वीं सदी में पहुंचने की बात भी बड़े गर्व से कही गयी किन्तु सम्पूर्ण आबादी की चर्चा आते ही बात गौण हो गयी।

(७) हमारा देश कृषि प्रधान है किन्तु हम कृषि की दृष्टि से भी स्वावलम्बी नहीं बन सके हैं। यहां भी हम पाश्चात्य नकल में ही जुटे रहे। आजादी के इतने वर्षों के पश्चात भी अनाज आयात करना पड़ता है।

(८) राष्ट्रीय चरित्र के अभाव में सारे उद्योग धन्धे में ईमानदारी की कमी रही और व्यापार करने वाले लोगों ने अपनी सारी सोच का आधार अत्यधिक मुनाफाखोरी ही बनाया। व्यक्तिगत स्वार्थ इतना बलिष्ठ हुआ कि सामूहिक स्वार्थ को तिलांजलि दे दी गयी। स्थिति प्रारम्भ से ही इतनी भयंकर रही कि पश्चिमी चकाचौंध के भक्त एवं अनुकरण कर्त्ता हमारे प्रथम प्रधानमंत्री स्वयं जवाहरलाल जी को भी यह कहना पड़ा कि ये मुनाफाखोर राष्ट्र द्रोही हैं, इन्हें गोली मार देनी चाहिए। किन्तु जब वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे तब तक बहुत देर हो गयी थी और वैसे भी कुछ ही दिनों बाद वे स्वयं स्वर्गवासी हो गये।

(९) इस लगातार मुनाफा खोरी ने काला-बाजारी और काले धन को निरन्तर जन्म दिया। जो पैसे वाले थे वे कई गुना पैसे वाले बन गये और जो दरिद्र थे वे निरन्तर दरिद्र होते रहे। कहा जाता है कि हमारे देश में आज इतना ज्यादा काला धन है कि उससे दुनिया के १/३ भाग का पोषण किया

जा सकता है।

(१०) इसी काले-बाजारी ने मुद्रास्फिति (inflation) को जन्म दिया है जिसने हमारे रुपये का बार-बार अवमूल्यन किया है। राष्ट्रीय सम्पदा आज भी हमारे पास कम नहीं किन्तु हमारे रुपये का मूल्य विश्वबाज़ार में अत्यधिक सस्ता हो गया है।

हमारी आर्थिक स्थिति क्या है ! :—

आर्थिक स्थिति की दृष्टि से विचार करने पर निराशा के सिवाय और कुछ भी नहीं दीखता। हमारे बजट का आम धर्म है कि यह प्रायः घाटे के बजट (Deficit financing) के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। कहते हैं कि विकासशील राष्ट्र के लिये घाटे का बजट लाभकारी या अच्छा होता है। इससे विकास प्रक्रियाओं को बल मिलता है। बहुत सारे अर्थनीति के विद्वानों ने भी विकास की प्रक्रिया के लिये इस घाटे के बजट को उचित बताया है। किन्तु यह घाटे का बजट कब तक हो ? क्या इसे वर्ष दर वर्ष चलते रहना चाहिए ? जिस देश में वर्ष दर वर्ष घाटा ही होता रहे उसकी मर्यादा विश्व मंच पर कभी नहीं बढ़ सकती वरन् वह अवहेलना की दृष्टि से ही देखा जाएगा। यह तो सर्व विदित है कि लगातार घाटे का बजट हमारे कर्ज को बढ़ाएगा, मुद्रा स्फिति बढ़ेगी और विश्व-बाजार में हमारी विश्वसनीयता घटेगी।

संलग्न सभी आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि विगत वर्षों में जो कुछ भी प्रयास हुए उनके परिणाम निराशाजनक ही रहे। अतः यहां इनके कारणों पर विचार करना आवश्यक है। इसके लिए यह जानना आवश्यक है कि हमारे देश का स्वरूप क्या है ? यह तो सर्वविदित है कि हमारा देश (क) जन बाहुल्य और (ख) कृषि प्रधान देश है। अतः 'अर्थ' के सम्बन्ध में हमारी सारी चिन्ताओं का आधार 'आबादी' और 'कृषि' पर ही निर्भर हो सकता है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति, समाज और देश अपनी अवस्था के अनुसार ही अपने लिये 'अर्थ' की दिशाएं निश्चित करता है या अर्थोपार्जन के तरीके ढूंढता है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि प्रत्येक देश की

आर्थिक दशा किन-किन कारकों से सम्बन्धित है, किन-किन तथ्यों से प्रभावित है और किन -किन बातों पर निर्भर है ।

'अर्थ' से सम्बन्धित कारकों में प्रमुख कारक हैं :—

उत्पादन, खपत, कर व्यवस्था, रोजगार और द्रव्य-मूल्य ।

इन कारकों की निर्भरशीलता जिन बातों पर निर्भर होती है— उनमें प्रमुख हैं :— कृषि, उद्योग, व्यवसाय व सेवा ।

इस तरह उत्पादन, खपत, कर व्यवस्था, रोजगार और द्रव्यमूल्य के आधार पर ही कृषि, उद्योग, व्यवसाय एवं सेवा प्रभृति से सम्बन्धित योजनाएं बन सकती हैं और बननी भी चाहिए। किन्तु इनका आधार जन बाहुल्यता और कृषि पर केन्द्रित रखनी चाहिए। अर्थात् हमें हर समय अपने मस्तिष्क में यह बात रखनी होगी कि हम ऐसे उद्योग और व्यवसाय को चुनें जिसमें अधिकाधिक रोजगार के अवसर हों, उत्पादन-खपत का सुयोग हो तथा द्रव्यमूल्य और कर का नियन्त्रण भी हों । इस तरह कृषि और आबादी को ध्यान में रखते हुए हमें कृषि पर ही अधिकाधिक ध्यान देना होगा। जबकि अपने पंचवर्षीय योजनाओं में इन तथ्यों के प्रति पूर्ण उदासीनता स्पष्ट देखी जा सकती है।

हमारी प्राचीन अर्थव्यवस्था :—

जब अपनी अर्थव्यवस्था की बात हम सोचते हैं तो स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि भारत जैसे प्राचीन, प्रतिभा सम्पन्न राष्ट्र की अपनी कोई अर्थव्यवस्था प्राचीन काल में थी या नहीं ? क्या वेदों की ऋचाओं, मंत्रों और कौटिल्य के श्लोकों में जो बातें कही गयीं हैं वे कोरी कल्पना के आधार पर हैं या उसका कोई वास्तविक स्वरूप भी था ? अब यह बात अकाट्य सत्य है कि यदि भारत एक वैभवशाली राष्ट्र था तो इसकी अपनी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था निश्चित रूप से थी । क्योंकि सुदृढ़ व्यवस्था बिना वैभवशाली राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती।

राम और कृष्ण के युग की भले ही सर्वमान्यता न हो किन्तु चन्द्रगुप्त का काल तो किसी भी दृष्टि से अमान्य नहीं हो सकता। इसलिए प्राचीन काल में भी ये व्यवस्थाएं थीं, निश्चित रूपेण थीं और निश्चित रूप से सुदृढ़ थीं। हम ज़रा उनका भी अवलोकन करें।

अंग्रेजों के आने के पहले तक हमारी अर्थव्यवस्था के केन्द्रबिन्दु 'स्वावलम्बन', 'स्वाश्रय' और 'ग्रामीण व्यवस्था' थे। लाखों ग्राम और जनपद अपने कारोबार में स्वतन्त्र थे। गांवों की जातिगत पंचायतों की बुनियाद पर आधारित मजबूत सामाजिक संगठन के अन्तर्गत सभी आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी थे। गांवों से ऊपर सीधे-सादे छोटे बड़े राज्य थे। किन्तु उन दिनों उन राज्यों का ग्रामीण प्रजा या प्रजा की आन्तरिक व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप नहीं था। गांव से राज्यों का सम्बन्ध सामान्य तौर पर केन्द्रीय खर्च के लिये 'कर' वसूली तक ही सीमित था। राजा या नवाब को कर दे देने के पश्चात् प्रजा अपने जीवन-व्यापार चलाने को स्वतन्त्र थी। आर्थिक दृष्टि से ग्राम स्वावलम्बी थे। भारत की जनता न केवल राजनीतिक दृष्टि से अपितु आर्थिक दृष्टि से भी स्वावलम्बी थी। इसी व्यवस्था को 'विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था' के नाम से जाना जाता था। प्रान्तीयता या जातीयता को कोई बढ़ावा न था। हर गांव अपने में मस्त आनन्दपूर्वक स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करता था। लोगों का जीवन न केवल अपने लिए अपितु समस्त जीव, प्राणी, उद्मिद यहां तक कि निर्जीव माने जाने वाले नदियों, पहाड़ों, मिट्टी आदि से भी सहज मानवीय सम्बन्धों और संज्ञाओं से सम्बद्ध था और सारे सम्बन्ध समरस होकर वातावरण को वसन्त ऋतु सा सरस बना देने में सक्षम थे। जिस प्रकार वसन्त ऋतु का कार्य सबको सरसता के साथ नवीनता देना है, आनन्द देना है उसी प्रकार लोगों का जीवन केवल अपने लिए नहीं अपितु सारे वातावरण के लिए है, सभी को आनन्द प्रदान करना हैं। इस तरह निम्न मंत्र का साकार रूप था तब।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमांऽऽअस्तु सूर्य्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु न।

मनुष्य,तुम लोग वसन्त ऋतु को प्राप्त होकर जिस प्रकार के होम (त्याग) से वनस्पति आदि कोमल गुणयुक्त हो ऐसे यज्ञ का अनुष्ठान करो और इस प्रकार वसन्त ऋतु के सुख को सब जने तुम लोग प्राप्त हो । अर्थात् वनस्पति या प्रकृति किस प्रकार कोमल, गुणयुक्त या खुशहाल हो— यह भी दायित्व बोध सबको था । (यजुर्वेद अध्याय-१३ मंत्र २९)

सत्ता के आकार छोटे-बड़े होते थे, होते रहते थे । किन्तु प्रजा अपने कार्य-कलाप में मस्त थीं । इतिहास के पन्नों में ऐसे भी उदाहरण हैं जिनसे पता चलता है कि राजा या सत्ता ने जब कभी प्रजा या ग्राम की व्यवस्था में ज्यादा हस्तक्षेप करने की हिम्मत की, तो साधारण जनों ने भी उसी हिम्मत से मुकाबला किया, विरोध किया । क्योंकि उन्हे ज्ञात था :—

> आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेनं कल्पतां चक्षुर्यज्ञेनं कल्पता श्रोत्रं यज्ञेनं कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम । प्रजापते: प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मा मृताऽअभूम ॥ (यजुर्वेद अध्याय ९ मंत्र २१)

अर्थात् मैं ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा देता हं कि तुम लोग मेरे तुल्य धर्मयुक्त गुण, कर्म, स्वभाव वाले पुरुष की ही प्रजा हो तो, अन्य किसी क्षुद्राशय, पुरुष की प्रजा होना कभी भी स्वीकार न करना । जैसे मेरी आज्ञा मानकर तुम अपना सब कुछ धर्म के साथ निभाओ और लोक और परलोक के सुखों को नित प्राप्त होओ वैसे ही जो पुरुष धर्म युक्त न्याय से तुम्हारा निरन्तर पालन करे उसी को अपना सभापति राजा मानों ।

इस प्रकार ऐसी स्वाधीन, स्वावलम्बी अर्थव्यवस्था, जीवन व्यवस्था के आधार पर ही लाखों ग्राम अलग-अलग अवश्य थे किन्तु संस्कृति की दृष्टि से वे अक्षुण्ण और एक बद्ध थे । प्रजातन्त्र कोई पाश्चात्य विचार नहीं है । ऐसे तन्त्र के उदाहरण हमारे इतिहास के पन्नों में भरे हैं । राज्य भले ही कोई हो किन्तु राज्य तो प्रजा का ही था । एक अदने से धोबी के कथन पर पराक्रमी राजा राम का अपनी पत्नी सीता को त्यागना दुनिया के किस प्रजातन्त्र का उदाहरण है ? भावार्थ यह कि प्रजातन्त्र हमारे रक्त में है । तब यह भी सत्य है कि कोई भी व्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, समय,

काल और परिस्थिति के कारण उसमें त्रुटियों का आ जाना स्वाभाविक है। 'व्यवस्था' को अपने हित में उपयोग करने वाले अथवा दुरुपयोग करने वाले भी पैदा होते रहते हैं। और इन त्रुटियों की संभावनाए तब और बढ़ जाती है जब कोई देश लम्बे काल तक पराधीन हो।

अंग्रेज यहां शासन करने के उद्देश्य से नहीं आए। वे व्यापार करने आए और व्यापार ही करते रहे। सत्ता लेने के पश्चात वे भलीभांति समझ गये थे कि ऐसे विलक्षण आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था में न तो उनका शासन पनप सकता था और न ही उसे यहां अधिक समय तक सहा जा सकता है। इसलिये उन्होंने योजनाबद्ध तरीकों से सर्वप्रथम हमारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को ही तोड़ना शुरू किया। उन्होंने अपनी योजना का पहला मोहरा जमींदारों और नवाबों को बनाया। उन्हें विलासिता में जकड़ा। अपनी परोपजीवी, लुटेरी तथा विलासी संस्कृति को आधुनिकता का जामा पहनाकर हमारी अपनी प्राचीन सभ्यता, अर्थव्यवस्था को दकियानूसी और प्रगति विरोधी बताते हुए ऐसा प्रचार किया कि हम स्वयं को ही भूल गये और उनकी विलासिता से आकर्षित होकर उनकी ही जीवन शैली में बहने लगे। भारतीय से-कथित सभ्य, अर्थात अंग्रेज बनने लगे। विलास के साधन जुटाने के लिये ग्राम, जनपद तथा पंचायतों के अधिकारियों को फुसलाया, डराया और धमकाया गया और 'शोषक' बनाया गया। जनरक्षकों को भौतिक सुखों की चकाचौंध में भक्षक बना दिया गया। उनकी विनाशी आधुनिकता के प्रचार में हम इतना बहे कि आज अंग्रजों के चले जाने के बाद भी यहां अंग्रेजियत मौजूद है। इसी के प्रकाश में अपने देश के भी कुछ विद्वानों का मत प्रबल है कि अपने देश की कोई अर्थव्यवस्था ही नहीं थी। सारे जीवन-दर्शन का स्रोत 'पश्चिम' है 'पूर्व' में तो कुछ था ही नहीं।

गांधी-विचार :—

गांधी जी इस देश की प्राचीन अर्थव्यवस्था से अवगत थे। दूसरे महायुद्ध के बाद जब उन्होंने महसूस किया कि अंग्रेज अब और अधिक

भारत में नहीं रह पायेंगे तो वे कांग्रेस की समिति में आजादी के बाद की 'संरचना' पर चर्चा छेड़ी । १९४५ के आखिरी महीने में जवाहरलाल नेहरू से इस सम्बन्ध में उनके पत्राचार भी हुए । और उन्होंने न केवल स्वदेशी राजनैतिक सत्ता अपितु स्वदेशी अर्थव्यवस्था के लिए भी आन्दोलन छेड़ा । खादी, चरखा-उद्योग और स्वदेशी वस्त्र आदि से सम्बन्धित आन्दोलन आर्थिक पुनर्रचना की दिशा में ही किये गये आन्दोलन थे । उनके ये कदम ठोस, मौलिक और दूरदर्शिता के परिचायक थे । यह बात अलग है कि (संभवतः) तात्कालिक परिस्थितियों के कारण वे समस्त जीवनोपयोगी सामग्रियों को अपने आन्दोलन से नहीं जोड़ पाए अथवा यह भी हो सकता है कि अन्य ऐसी वस्तुओं के बारे में भी किसी आन्दोलन की बात उनके दिमाग में रही हो और योजनाबद्ध ढंग से वे उसे प्रारम्भ करते अथवा यह भी माना जा सकता है कि पूरी सामग्रियों को पहले से ही आन्दोलन में न शामिल करके उन्होंने भूल की तथापि यह निश्चित है कि उनके द्वारा उठाये गये ऐसे आन्दोलन स्वावलम्बी आर्थिक नीति संग्राम की दिशा में सराहनीय कदम थे । दुर्भाग्य की बात है कि मौत के शिकंजे में शीघ्र ही उनके कसे जाने के बाद उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये ऐसे आन्दोलनों की यथार्थता लोग भूल गये और विमुख हो गये । राजनैतिक सत्ता पाने के बाद जो लोग सत्ता में आये वो गांधी जी की इन बातों को समझ ही न पाये । परिणामतः पाश्चात्य चकाचौंध में अतीत भूल गये और एक अन्धी दौड़ में शामिल हो गये । इस प्रकार जो कुछ थोड़ा अभियान स्वावलम्बी आर्थिक नीति की दिशा में प्रारम्भ भी हुआ, वह भी पूरे तौर पर उपेक्षित हो गया । तृष्णा, भोग, स्वार्थ और शोषणकारी व्यवस्था के प्रवाह में हम पुनः बह गये । विकेन्द्रित स्वसाधन के अधिकतम उपयोग के आधार पर स्वावलम्बी ग्रामों पर आधारित स्वाधीन अर्थव्यवस्था को हम जो भूले सो भूल ही गये ।

हमारी अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ स्वदेशी विचार :—

यह तो सर्वविदित है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सरकारें, अधिकांश विपक्षी दल या अर्थनीतियों से सम्बन्धित अन्य लोगों ने पश्चिम में उगी

अर्थनीतियों एवं दर्शनों के आधार पर समाजवाद, साम्यवाद और पूंजीवाद में ही अपनी अर्थव्यवस्था के समाधान एवं इसकी दिशा को ढूंढने का प्रयास किया। इन्हें अपनाने की प्रतिशत या स्तर भले ही भिन्न-भिन्न हो किन्तु व्यक्तिगत या सरकारी सभी स्तरों पर आज भी यही विचार-दर्शन हमारी आर्थिक गतिविधियों पर प्रभावी है। दुख इस बात का है कि इन 'वादों' को अपनाने वाले प्रखर राष्ट्र भी राष्ट्रीय-आर्थिक समस्याओं को हल करने में असफल हुए हैं। उनकी दशा तो बिगड़ ही गयी फिर भी अपने देश के कर्णधारों की आंख नहीं खुली। रूस जैसा शक्तिशाली समृद्ध राष्ट्र आज साम्यवाद से अलग हो चुका है। श्री गोर्बाचेव को तो कहना ही पड़ा, कि साम्यवाद ने उनके देश को कमजोर बना दिया। वस्तुस्थिति भी यही है कि ऊपरी आडम्बरों से सजा वैभवशाली राष्ट्र आज अपनी जनता को भोजन जुटाने में भी असमर्थ है। पूंजीवादी देश अमेरिका में भी असफलता के संकेत मिल रहे हैं।

इसीलिये आजादी के पश्चात और इसके पूर्व भी हमारे देश के विद्वानों ने समय-समय पर इस दिशा में अपने विचार एवं सुझाव दिए। इस सम्बन्ध में विष्णु बुवा ब्रह्मचारी के निबन्ध, वासुदेव बलवन्त फड़के की डायरी और दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, आर. सी. दत्त, डा. बाबा साहेब अम्बेदकर आदि के लेख एवं भाषण तथा श्रीगुरु जी एवं पण्डित दीन दयाल उपाध्याय के विचार उल्लेखनीय हैं। कमोवेश सभी ने विकेन्द्रित या मिश्रित अर्थव्यवस्था की बात कही है। ये बातें समय-समय पर प्रकाशित हुई हैं, उन पर विशद चर्चाएं भी हुई हैं। अतः यहां उनका पुनरुल्लेख आवश्यक नहीं है।

इन विद्वत मण्डली के विचारों के आधार पर अधोलिखित तथ्य प्रकट हुये माने जा सकते हैं।

(i) स्पर्धायुक्त अर्थव्यवस्था या हिन्दू अर्थव्यवस्था (Competitive market Economy or Hindu Economy).

(ii) राष्ट्रवादी अर्थव्यवस्था (Nationalistic Economy)

अतः इन दोनों पर विचार करना समीचीन होगा।

स्पर्धायुक्त अर्थव्यवस्था (Competitive market economy) :—

हमारे देश के कुछ विद्वानों ने (जिसमें प्रमुख है डा. बोकरे) समाजवाद, साम्यवाद और पूंजीवाद से हटकर 'स्पर्धायुक्त अर्थव्यवस्था' अपनाने के लिये सुझाव दिया। दूध का जला मट्ठा भी फूंक कर पीता है। इसलिये आज हमें किसी भी नीति को अपनाने से पहले उस पर पूरी विवेचना करने की आवश्यकता है।

यह ठीक है कि अर्थव्यवस्था में स्पर्धा एक सही दिशा है। इसके कारण उत्पादन और बाजार दोनों की उन्नति की सम्भावनाए अधिक हैं। किन्तु प्रश्न उठता है कि स्पर्धा करने वालों की क्षमता क्या हो ? एक नियमित लड़ाकू पहलवान से उस व्यक्ति का क्या मुकाबला जिसने अखाड़े का मुंह तक न देखा हो ! ऐसी स्पर्धा कैसे ! आज हमारी स्थिति ऐसी है कि (कुछ) मुट्ठी भर लोग पूंजीपति बनकर इस दशा में पहुंच गये हैं कि साधारण जनता की तो बात क्या, सरकार भी मुकाबले में नहीं खड़ी हो सकती। सरकार के अधिकांश अधिकारी, मंत्रीगण एवं समाज के कई स्तर के घटक इन्ही मुट्ठीभर लोगों की मुट्ठी में हैं। इनके साथ मध्यम वर्ग अथवा सामान्य लोग तो स्पर्धा करने से रहे। इसलिये इस व्यवस्था को अपनाने से पहले यह बहुत आवश्यक है कि हम उत्पादन क्षेत्रों और स्पर्धा क्षेत्रों का वर्गीकरण करें। कौन सा उद्योग किसे चलाना है ? कितनी जमीन पर और किसे खेती करनी है और किस प्रकार का 'व्यवसाय एवं सेवा' (Trade and service) किसे करना है ! यह पहले तय किया जाना चाहिए। क्योंकि आज आर्थिक सन्तुलन इतना बिगड़ा हुआ है कि छोटी मछलियां बड़ी मछली का भोज्य पदार्थ ही बन सकती हैं। स्पर्धा की बात तो स्वप्न मात्र है। अतः हमें ऐसी नीति निर्धारित करनी होगी कि चाहे वह उत्पादन क्षेत्र हो या बाजार सभी में स्पर्धा बराबरी अथवा लगभग समतुल्य के बीच हो। अतः ऐसे क्षेत्रों का वर्गीकरण ही प्रथम कार्य होना चाहिए। तभी यह व्यवस्था कारगर (प्रभावी) हो सकती है।

राष्ट्रवादी अर्थनीति (Nationalistic Economy) :—

कुछ विद्वानों का विश्वास है कि प्रखर राष्ट्रवाद के माध्यम से ही अर्थव्यवस्था की समस्याओं का समाधान हो सकता है। प्रखर राष्ट्रवाद भी स्पर्धायुक्त अर्थव्यवस्था के समान लाभकारी है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। किन्तु प्रश्न यह उभरता है कि केवल राष्ट्रवाद क्या इस समस्या का निदान दे सकता है ? यदि केवल राष्ट्रवाद अर्थव्यवस्था की समस्याओं का सटीक समाधान है तो अमेरिका और जापान के सदृश ही दुनिया की सर्वोत्तम आर्थिक नीति तय की जानी चाहिए। अमेरिका या कुछ पाश्चात्य देश एवं जापान अपनी अर्थव्यवस्था में भले ही सफलता अर्जित किये हों किन्तु वे मानवोपयोगी नहीं हैं। ऐसे देश अपनी समस्याओं का आभासी समाधान अवश्य ढूंढ लेते हैं किन्तु भोगवाद और भौतिक सुखवाद के आकांक्षी होने के कारण उनकी सही अर्थव्यवस्था और देशों के लिये शोषण नीति को जन्म दे रही है। आज वे समस्त विश्व को अपनी मुट्ठी में रखना चाहते हैं। लंका के रावण के राज्य में सभी लोग सुखी थे, आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ थे किन्तु भोगवाद और भौतिक सुखों की प्राप्ति के इच्छुक होने कारण वे अन्य सभी का शोषण करते थे। वहां की प्रजा राष्ट्रभक्त थी उनकी राष्ट्रभक्ति पर बिन्दुमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु उनमें मानवता का अभाव था इसीलिये उन्हें राक्षस या दानव माना गया। इसी प्रकार अमेरिका, जापान एवं अन्य राष्ट्र जो आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ हैं तथा जहां प्रबल राष्ट्रवाद भी है, वहीं शोषण के प्रवृत्ति की भी उनमें कमी नहीं। भोग-विलास वहां अपनी पराकाष्ठा पर है। अतः राष्ट्रवाद इस समस्या का एकमात्र निदान है ऐसा मानना बहुत ठीक नहीं होगा। इस पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

राष्ट्रवाद के साथ मानवतावाद ही व्यक्ति, व्यक्ति-समूह अथवा राष्ट्र को अन्याय, शोषण और विषमता से मुक्ति दिला सकता है। इसलिये नैतिकता के आधार पर मानववादी गुण के साथ यदि राष्ट्रवादी अर्थव्यवस्था की रचना की जाय तभी सही दिशा में हम चल सकेंगे और तब न केवल अपना, अपने देश का, समाज का अपितु विश्व के समस्त देशों का हम

वास्तविक भला कर सकेंगे। अपने पुराने मंत्र "वसुधैव कुटुम्बकम्" की अवधारणा तभी साकार कर सकेंगे और यही हिन्दू अर्थव्यवस्था का स्वरूप माना जा सकता है।

वर्तमान परिस्थिति में हमारी अर्थव्यवस्था कैसी हो ?

उपरोक्त चर्चाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर तो पहुंच ही सकते हैं कि हमारे देश के ढांचे के अनुसार 'विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था' ही उपयुक्त व्यवस्था हो सकती है। इसकी प्राचीन कालिक उपलब्धियों से तो हम परिचित ही हैं। साथ ही परवर्ती काल में आ गई त्रुटियों से भी हम अवगत है— अनभिज्ञ नहीं। इसलिए हमें इस व्यवस्था को अपनाते समय सावधानियां बरतनी होंगी। कुछ परिवर्तन करने होंगे। अपने अनुभवों का समावेश करना पड़ेगा। अतः इस व्यवस्था के आधार पर 'आर्थिक पुनर्रचना' के लिए हमें निम्न शर्तों का पालन करना आवश्यक होगा। समयानुसार शर्तें बढ़ या घट सकती हैं।

(क) **शिक्षा :—** पहले ही कहा जा चुका है कि आज की शिक्षा-पद्धति हमारे लिए ठीक नहीं हमें सत्यज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता है। इस दिशा में समाज-सेवियों और विद्वानों को आगे बढ़कर कार्य करना होगा। यह कार्य किसी राजनैतिक दल या संस्कार से न कभी पहले संभव था और न आज संभव है। प्रारंभिक चर्चाओं के आधार पर सत्य शिक्षा, सत्यज्ञान और आत्मिक सुख प्राप्ति हेतु प्रचार और प्रसार करना पड़ेगा। वर्तमान शिक्षा, शिक्षण संस्थान एवं शिक्षकों की मानसिकता में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे संस्कारित नागरिक का निर्माण है, जिसमें स्वावलम्बन एवं राष्ट्र प्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी हो तथा जो स्व संसाधन के उपयोग के आधार पर अपना तथा राष्ट्र के विकास की कल्पना कर सके। तभी भारतीय राष्ट्रवाद रूपी मानवता-बोध की सही रूप रेखा विकसित हो सकेगी। ऐसे ज्ञानी नागरिकों के द्वारा ही राष्ट्र की उचित समृद्धि सम्भव हो सकेगी। तथा ऐसे वातावरण की सृष्टि हो सकेगी जिसमें हमारे (आदर्श को प्राप्त करने के)

प्रयास सफल हो सकेंगे। इस दिशा में अधोलिखित कदम लाभकारी हो सकते हैं।

(i) शिक्षा में गुणात्मक सुधार के लिए प्राथमिक विद्यालयों पर ज्यादा खर्च किया जाना चाहिए।

(ii) प्रारम्भ से ही बच्चों को उपभोक्तावादी हमले से बचाने के लिए ब्रह्मचर्य की शिक्षा देनी चाहिए।

(iii) पाठ्यक्रम में भले अनुरूपता हो, किन्तु किसी एक पद्धति पर जोर देना आवश्यक नहीं। विद्यालयों और शिक्षकों को अपने दायित्व के प्रति सजग रहते हुए विभिन्न पद्धतियों से कार्य सम्पन्नता की स्वतन्त्रता और छूट होनी चाहिए।

(iv) सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने में भाषा का भी अपना महत्त्व है। इसलिए प्राथमिक स्तर से ही हिन्दी और संस्कृत की शिक्षा पर बल देना चाहिए।

(v) विश्व विद्यालयों में बी. ए., एम. ए. के पाठ्यक्रमों से ज्यादा व्यावहारिक प्रशिक्षण पर जोर होना चाहिए। आसपास की सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप कुटीर उद्योगों और कृषि उद्योगों को व्यावहारिक प्रशिक्षण में शामिल करना चाहिए। ध्यातव्य है कि गांवों में प्राथमिक स्तर से भी कृषि उद्योगों में अथवा परिपार्श्विक आवश्यकतानुकूल कुटीर उद्योगों में भी बच्चों को प्रशिक्षित करना उन्हें स्वावलम्बी बनाने की प्रक्रिया होगी।

(vi) उन्मुक्त वातावरण में आश्रमपद्धति शिक्षा ही सुन्दर शिक्षा है। अतः जहां संभव हो ऐसे ही आश्रमों का विकास होने देना चाहिए। शिक्षकों के चयन का आधार मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक परीक्षण होना चाहिए। शिक्षक के वेतनमान का आधार उसकी डिग्री नहीं वरन् 'अनुभव' पर केन्द्रित होना चाहिए।

(vii) छात्र संघ आज राजनैतिक हथियार की ही भूमिका का निर्वाह कर

रहे हैं। अतः इनकी भूमिका और उपयोगिता पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

(viii) शिक्षा का आधार नौकरी-पेशे पर आधारित नहीं होना चाहिए। क्योंकि स्वतन्त्र राष्ट्र में शिक्षा का उद्देश्य गुलाम मानसिकता के नागरिक तैयार करना न होकर स्वावलम्बी और आत्माभिमानी नागिरक तैयार करना होता है। शिक्षा स्वस्थ संस्कार प्रदान करती है। अतः लोगों में राष्ट्र प्रेम की भावना, सृष्टि और मानव सम्बन्ध और सम्पर्क का सत्यज्ञान, ब्रह्मचर्य पालन और स्वावलम्बी जीवन को प्राप्त करने के लिए उनके मन, चरित्र और आत्मबल, ज्ञान को पुष्ट करना इन्हें संस्कारित करना ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।

(ख) **प्रखर राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार :—** समाज के प्रत्येक अवयव में राष्ट्रीय बोध होना परमावश्यक है। विशेषकर उद्योगपतियों में इस भावना का होना तो अपरिहार्य ही है। (इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि आज सभी उद्योगपति इस भावना से शून्य हैं।) क्योंकि उद्योग पतियों पर समाज कई रूपों से निर्भरशील है। और उद्योगपति या व्यवसायी में यदि केवल अपने लाभ की ही दृष्टि है तो शोषण स्वयमेव व्यावहारिक बन जाता है। और आजादी के बाद इस तरह के कटु अनुभव भी हमारे सामने हैं। गुलामी के दौरान अंग्रेजों ने ऐसी ही मानसिकता वाले लोगों को अपना मोहरा बनाया था, अतः आज भी अधिकांश पूंजीपतियों के विचार का केन्द्र भौतिक सुख के लिये विशुद्ध रूप से अर्थोपार्जन करना ही है भले ही इसके लिए सामान्य जन की बलि चढ़ानी पड़े। ऐसे उदाहरण आजादी से पूर्व और पश्चात दोनों कालों में भरे पड़े हैं। स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान जब गांधी जी ने स्वदेशी आन्दोलन छेड़ा तो इसका सबसे अधिक लाभ तत्कालीन स्वदेशी पूंजीपतियों ने उठाया। देशी मिलों ने खादी बनाकर पूरे बाजार को अपने आधीन में कर लिया जिसके कारण स्वदेशी आन्दोलन को गहरा आघात लगा। भारतीय पूंजी और उद्योग की राष्ट्र विरोधी भूमिका का यह नग्न स्वरूप है। इसी से ऊबकर गांधी जी ने लिखा था, "मान लीजिये कि विदेशी वस्त्र का बहिष्कार सफल हुआ,

मान लीजिये कि खादी के नाम पर झूठी खादी की चलन चल पड़ी और मान लीजिये कि उससे सच्ची खादी अपना सिर ऊपर नहीं उठा सकी तब दो में से एक ही परिणाम हो सकता है। बनावटी खादी और देशी मिलों का दूसरा कपड़ा काफी नहीं हो सकता और यदि लोगों में खादी की रूचि पैदा न हुई तो वे ही विदेशी कपड़े के लिए हुल्लड़ मचाएंगे। फलस्वरूप हमारी हालत पहले से भी बदतर हो जाएगी और इस तूफान में देशी मिलें संकट में आ पड़ेंगी। अहिंसा की जंजीर टूट जाएगी और क्रुद्ध जनता देशी मिलों का ही बहिष्कार करने को तैयार हो जाएगी। अथवा यों समझिए कि लंकाशायर का माल नहीं रहा और खादी रूपी ढाल भी नहीं है, तब लंकाशायर के पूंजीपति अपनी मिलें इस देश में कायम करेंगे और परदेशी पूंजी और परदेशी बुद्धि हमारे यहां पैर जमाएगी। इससे भी देशी मिलों पर दबाव बढ़ेगा और फलतः वे भी देश में स्थापित विदेशी मिलों के साथ मिलकर लोगों को चूसने में हाथ बटाएगी। शोषण या उन्हें चूसना अपना कर्त्तव्य समझेंगी।" गांधी जी ने मिल मालिकों को चेतावनी देते हुए लिखा था, "......अगर मिल मालिकों ने खादी के नाम से मिल का कपड़ा बनाना और बेचना बन्द नहीं किया तो उनके विरोध में प्रचण्ड आन्दोलन के उठ खड़े होने की सम्भावना पूरी है। और इस तरह का आन्दोलन करना धर्म हो जायेगा।" (साभार जनसत्ता, २४ अप्रैल १९९२, पृष्ठ ४, 'स्वदेशी अभियान के व्यावहारिक पक्ष को भी देखें'— मृत्युंजय)

स्वतन्त्रता संघर्ष के दौरान भारतीय पूंजी और उद्योग की भूमिका की स्पष्ट झलक उक्त बातों में परिलक्षित है। इसी तरह की आज भी उनकी भूमिका ध्यातव्य है कि जब हमारे वर्तमान वित्तमंत्री डा. मनमोहन सिंह ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के भारत में बेरोकटोक आने का मार्ग प्रशस्त किया तो सबसे पहले इस बात का स्वागत हमारे स्वदेशी पूंजीपतियों ने ही किया। और प्रशंसा के पुल बांधते हुए यहां तक कह डाला कि यह वास्तविक आर्थिक विकास का सफल प्रयास है। यही नहीं जब नयी उद्योग नीति में श्रमिकों के छटनी की बात आई तो इसका भी स्वागत हमारे पूंजीपतियों ने जोरदार शब्दों में किया। भावार्थ यह कि आज भी हमारे व्यापारियों के दिमाग में व्यापार-व्यापार के लिए है राष्ट्र, समाज और

सामान्य जनता की भलाई के लिए नहीं। अन्यथा यह कहां का न्याय है कि जहां लाखों करोड़ों बेकार हाथों को हम काम नहीं दे सकते वहीं काम पर लगे कुछ लोगों से उनके रोजगार छीन लें।

अतः नई आर्थिक पुनर्रचना में सबसे महत्त्वपूर्ण बात होनी चाहिए राष्ट्रीय चरित्र और राष्ट्रहित की बात। यह विचार बने कि हमारा सम्बन्ध न केवल अपने देश भारत से है वरन सृष्टि की प्रत्येक वस्तु से हमारा सम्बन्ध है। हम इस सृष्टि रूपी बृहद परिवार के एक अभिन्न अंग हैं। इसलिए अपने विलास और भौतिक सुख के लिए दूसरों का शोषण एक राष्ट्रीय अपराध है। गांधी जी के आन्दोलन 'सुराज' का नारा भी आत्मिक सुख के लिए ही था। केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता की ही बात संभवतः उनके दिमाग में भी नहीं थी।

किसी भी कार्य के लिए 'दृढ़ संकल्प' एक परम आवश्यकता है। और जब हम राष्ट्र की बात करते हैं तो 'राष्ट्रीय संकल्प' की भी बात स्वाभाविक है। आज की स्थिति-अवस्था में परिवर्तन की आशा हम तभी कर सकते हैं, जब समस्त नागरिकों के मन में यह बात घर कर ले कि उन्हें इस स्थिति में परिवर्तन करना है। पाश्चात्य भौतिक सुखों की चमक-दमक से हटकर आत्मिक सुख के लिए वे समर्पित हों। जापान की उन्नति में भी यह बीजमन्त्र है। प्रखर राष्ट्रवाद और मानववाद के आधार पर आर्थिक विकास की सत्यप्रतिज्ञा ही हमारी इस दुर्दशा में परिवर्तन ला सकती है।

(ग) **क्षेत्रों का बंटवारा :—** कृषि, उद्योग और व्यवसाय की दृष्टि से क्षेत्रों का बंटवारा आज की परिस्थिति में एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्य है। जहां यह बात आवश्यक है कि उद्योग, धंधे और व्यवसाय स्वतन्त्र और मुक्त होने चाहिए वहीं यह भी आवश्यक कि यह निश्चित हो कि कौन सा काम, किस स्तर का काम, कौन, करे। उदाहरण के लिए साबुन बनाने का काम एक छोटा उद्यमी (Enterprenure) करे और साबुन बनाने की छूट 'टाटा' और 'बिड़ला' को भी हो तो उनके सामने छोटा उद्यमी भला क्या स्पर्धा करेगा, वह तो असफल ही होगा। कुटीर उद्योगों और लघु उद्योगों की सार्थकता तभी उभर सकती है। जब उस पर किसी स्वदेशी या विदेशी

पूंजीपति का अंकुश न हो। इसलिए उत्पादन और क्षमता की दृष्टि से क्षेत्र का बंटवारा होना चाहिए। इसके लिए निम्न तथ्य विचारणीय हो सकते हैं।

(i) जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन लघु और कुटीर उद्योग के जरिए होनी चाहिए। ऐसे उद्योग सुदूर ग्रामों और शहरों में दोनों जगहों पर पनप सकते हैं। इनमें आपसी प्रतिस्पर्धा तो अवश्य होनी चाहिए किन्तु इनकी प्रतिस्पर्धा किसी बड़े पूंजीपति के साथ नहीं होनी चाहिए। जीवनोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन का भार बड़े पूंजीपतियों पर कभी नहीं डालना चाहिए।

(ii) बड़े पूंजीपतियों को विश्व बाज़ार में प्रतिस्पर्धा करने की छूट देनी चाहिए। उन्हें ऐसी सामग्रियों के उत्पादन में भरपूर सहयोग देना चाहिए जिसकी खपत विदेशी बाज़ार में हो और जो हमारे लिए विदेशी मुद्रा अर्जित कर सकें।

(iii) भारतीय सभ्यता और संस्कृति के आधार पर पारंपरिक उद्योगों की पहचान कर उसको बढ़ावा देने की चेष्टा की जानी चाहिए। जैसे टेक्सटाइल/जूट और कपड़ा, चाय, काफी, कृषि, उपलब्ध खनिज पदार्थों से जुड़े उद्योग आदि हमारे पारंपरिक उद्योग हैं इसलिये इनके विकास और प्रसार पर अधिक बल देना चाहिए।

(iv) इन उद्योगों में सामूहिक उत्पादन को ही आधार मानना चाहिए।

(v) 'अधिकाधिक उत्पादन' अधिकाधिक लोगों द्वारा (Mass Production by Masses) ही हमारा मूल मंत्र होना चाहिए।

(घ) **स्वदेशी आन्दोलन :—** इस आन्दोलन की आज बहुत ही उपयोगिता है। ऐसे आन्दोलन की बात आज कोई नयी बात नहीं है। इस सन्दर्भ में गांधी जी के आन्दोलन की चर्चा हो चुकी है। साथ ही उसकी असफलता के अनुभव के प्रति भी संकेत दिये गये हैं। अतः हमें यह आन्दोलन बहुत ही सतर्कता पूर्वक चलाने की आवश्यकता है। यह सुखद स्थिति है कि

संघ परिवार ने इस दिशा में एक बहुत ही उल्लेखनीय कदम उठाया है। '**स्वदेशी जागरण मंच**' के माध्यम से इसे राष्ट्रव्यापी आन्दोलन करने का प्रयास है।

जब हम स्वदेशी आन्दोलन की बात करते हैं तो उसमें स्वदेशी वस्तुओं के अधिकाधिक उपयोग ही केन्द्रबिन्दु के रूप में उभर कर हमारे सामने आता है। अतः स्वदेशी वस्तुओं के अधिकाधिक उपयोग की बातों के अलावा निम्न बातें भी आवश्यक हैं।

(i) साधारण जनता में स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग की भावना का निर्माण होना। स्वदेशी सामग्रियों के उपयोग को लोग राष्ट्रीय धर्म या व्यवहार मानें।

(ii) स्वदेशी के प्रति जागरूक बनाने के लिए शिक्षा और प्रचार की आवश्यकता है। अतः सुनियोजित ढंग से इस निमित्त भारतीय मानस को सुशिक्षित किया जाना चाहिए तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार सबल और प्रभावकारी ढंग से सरकार द्वारा ही किया जाना चाहिए।

(iii) भारत एक जन-बाहुल्य देश है। इसलिए स्वदेशी चीजों के उपयोग की बात समझ में आ जाने पर ही इसके व्यापक उत्पादन की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि अपनी जनसंख्या का बाजार ही बड़ा बाजार है। अधिकाधिक उत्पादन ही बाजार के मांग की पूर्ति करेगी। यदि बाजार में मांग की पूर्ति नहीं हुई तो व्यापार सिद्धान्त के अनुसार लोग दूसरी विदेशी चीजों की ओर आकर्षित होंगे। अधिकाधिक उत्पादन लघु और कुटीर उद्योग द्वारा ही हो सकता है अर्थात् Mass production for mass की कल्पना को ही साकार करना पड़ेगा।

(iv) लघु, कुटीर और कृषि उद्योगों पर इतना दायित्व-भार अवश्य पड़ना चाहिए कि ये हमारी जनता को कम से कम रोटी, कपड़ा और मकान की दिशा में अवश्य आत्मनिर्भर कर दें।

(v) शोषण और मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण रखने होंगे।

(vi) इस आन्दोलन के व्यवहारिक पक्ष के प्रति सदैव जागरुक रहना पड़ेगा। क्योंकि इस देश के स्वार्थपरस्त पूंजीपति, अधिकारी, राजनेता और विदेशी कम्पनियों के गठजोड़ इसे क्षतिग्रस्त कर सकते हैं। यथा स्वदेशी वस्तुओं का कृत्रिम अभाव पैदा कर सकते हैं, इसी अभाव की आड़ में बनावटी और घटिया किस्म की चीजों का निर्माण कर वास्तविक चीजों के प्रति रुचियों को नष्ट कर सकते हैं तथा स्वदेशी प्रतीकों के अन्तर्गत विदेशी चीजों के प्रचलन को बढ़ावा दे सकते हैं। अतः इसके क्रियान्वयन के समय अत्यधिक सजगता की आवश्यकता है।

(vii) इस दिशा में विज्ञापन की भी एक विशेष भूमिका है। दूरदर्शन, आकाशवाणी, समाचार पत्र आदि प्रचार तन्त्रों पर स्वदेशी चीजों के ही विज्ञापन हों। क्योंकि आज की बाजार-मांग विज्ञापन पर भी समान रूप से निर्भर हैं।

(viii) विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन और आयात में कमी लानी चाहिए। यथा संभव राष्ट्रीय स्तर पर इसका बहिष्कार ही होना चाहिए।

(ix) वैज्ञानिक अनुसन्धान क्षमता का भरपूर उपयोग स्वदेशी वस्तुओं की गुणवत्ता, उपयोगिता आदि बढ़ाने में किया जाना चाहिए। सरकार की ओर से इस पर खर्च और प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए किन्तु यह ध्यान रखना पड़ेगा कि अनुसन्धान के नाम पर हमारी पारंपरिक कुशलता का गला न घुटे। अनुसन्धान के दायरे दो प्रकार के हो सकते हैं। (१) हमारे अनुसन्धान किस क्षेत्र में हों तथा (२) हमारी प्राप्त स्वपद्धति में ही किस प्रकार का विकास सम्भव है। एकदम से ऐसे आधुनिक अनुसन्धान जो अपनी परिस्थिति के अनुरूप न हो हमें फिर से वहीं और उन्हीं लोगों पर आश्रित बना देगा जिनसे हमें मुक्ति संग्राम करना है।

(ङ) **तकनीकी (Technology)** : 'हमारे उद्योग-धन्धों में तकनीकी अभाव है।' ऐसा व्यापक प्रचार योजनाबद्ध तरीके से पाश्चात्य देश विगत कई वर्षों से चला रहे हैं। इस प्रचार ने इतना जोर पकड़ लिया है कि आम साधारण लोगों की बात ही क्या, अधिकांश सुलझे हुए विद्वानों ने भी इसी

को सत्य मान लिया है। भारत जैसे अविकसित (कथित रूप से) देश में ऐसे प्रचारों की कुछ प्रासांगिकता हो भी सकती है किन्तु उनके (पश्चिमी देशों के) साहस की दाद तो तब देनी पड़ती है जब वे जापान जैसे स्वसाधन के आधार पर विकसित होने वाले राष्ट्र पर यहीं आरोप प्रचार द्वारा लगाते हैं। जबकि जापान ने उन्हें अनेक क्षेत्रों में पछाड़ दिया है तथा विश्व बाजार में जापान ने अपनी एक साख कायम कर ली है।

अभी हाल में जापान के 'आधुनिकीरण की जापानी प्रक्रिया' के विशेषज्ञ प्रोफेसर '**ताकेशी हयाशी**' पेट्रियाटिक एण्ड पीपुल्स ओरियेण्टेड साईंस एण्ड टेकनालॉजी फाउण्डेशन के निमन्त्रण पर मद्रास आए थे। उनसे भारतीय युवा वैज्ञानिक सी. एन. कृष्णन और पी. पी. एस. टी. के सम्पादक ए. व्ही बाल सुब्रह्मण्यन ने बातचीत की। जो पी.पी.एस.टी. के मार्च ९२ बुलेटिन में प्रकाशित भी हुई। इस वार्ता में श्री हयाशी ने एक प्रश्न के उत्तर में कहा, 'जापान को औद्योगिक विकास के लिए लगभग बारह साल लगे हैं। सम्पन्नता और दौलत उनकी (निकट समय की) उपलब्धियां हैं जो १९७० के बाद ही मुख्य रूप से परिलक्षित हुई। हमारी सफलता का कारण अदम्य इच्छा शक्ति और दृढ़ निश्चय ही है।' उनका मानना है कि जापान में उत्पादन पद्धति (Technology) के विकास के लिए किसी सैद्धान्तिक औचित्य की आवश्यकता नही क्योंकि उसका कृत्य ही उसके सही होने का सबूत है। उनका कहना था कि उनके यहां अनुसन्धान और विकास कार्य (R &D) कार्यशाला में होते हैं। इस कार्यशाला में क्षमतावान राजनीतिज्ञों को भी रखा जाता है। विश्वविद्यालयों से निकले स्नातक या पी. एच. डी. प्राप्त लोगों को इसी कार्यशाला में अनुभवी कारीगरों के अधीन कार्य सीखने पड़ते हैं। किसी युवा एम. डी. ए. उत्तीर्ण होने वाले को यह अधिकार नहीं दिया जाता कि वह किसी प्रशिक्षित कारीगर को निर्देश दे कि उसे क्या करना है अथवा कोई विशेष कार्य ही करना है। उल्टे उसे उसी कारीगर से ही सीखना पड़ता है। उम्र और अनुभव के आधार पर वरिष्ठता का सम्मान किया जाता है। वेतन प्रायः अनुभव की उम्र के हिसाब से तय किया जाता है। भले ही उसका पद छोटा या बड़ा हो। सबसे वरिष्ठ और कनिष्ठतम के वेतन में बहुत बड़ा

अन्तर नहीं होता। कोई कर्मचारी गलती करे तो उसे नौकरी से निकाला नहीं जाता अपितु उसके साथ परिवार के एक सदस्य की भांति व्यवहार किया जाता है। वहां उद्योग का पूरा ढांचा पारिवारिक और मानवीय आधार पर है। प्रत्येक दिन कार्यारम्भ करने से पहले उसकी समीक्षा की जाती है। उन्होंने यह भी बताया कि आत्मनिर्भरता का महत्त्वपूर्ण पहलू कुछ मौलिक उद्योगों के बीच तारतम्य स्थापित करना है। इस प्रकार के अन्तर्सम्बंधों से उद्योग और तकनीकी के आसपास पूरक उद्योगों का एक जाल बिछा दिया जाता है। इन पूरक उद्योगों को चलाने का दायित्व पारंपरिक उद्यमियों को ही दिया जाता है। श्री हयाशी ने बताया कि उनके यहां इस प्रकार महत्त्वपूर्ण उद्योग कपड़ा उद्योग तथा लोहा, इस्पात और खनिज हैं। अब कपड़ा उद्योग में तकनीकी विकास केवल उत्पादन क्षेत्र में किया गया है जबकि बुनने का काम पारंपरिक उद्यमियों के पुराने ढंग पर ही छोड़ दिया गया है। इस तरह नवीन और पुरानी दोनो तकनीक समानान्तर रूप से कार्य कर रही है। जापानी सामूहिक उत्पादन में विश्वास करते हैं। उनका कार्य किसी एक शेड के नीचे नहीं अपितु अनेक घरों और शेडों तक फैला हुआ है। उन्होंने पश्चिम के लोगों की इस बात के लिए तारीफ की कि वे अपनी समस्याओं के समाधान के लिए स्वयं प्रयास कर कामयाबी हासिल करते हैं, किन्तु उनका दोष यही है कि वे अपने विचारों और माडलों को दूसरो पर सार्वभौमिक धारणा के रूप में थोपते हैं जिसे **'यूरो-केन्द्रित सार्वभौमिकता'** कहा जाता है। इसी बहाने वे अविकसित देशों के समाज, शिक्षा और राजनीति को भी अपने शिकंजे में कसने का प्रयास करते हैं। उनसे जब यह पूछा गया कि जापान का अनुभव अद्वितीय है— क्या कोई और राष्ट्र उनका अनुसरण करके सफलता प्राप्त कर सकता है ? तो उन्होंने बहुत ही स्पष्ट और सुन्दर उत्तर दिया। उनका कहना था कि जापान के अनुभव से दूसरे देशों को संकेत तो मिल सकता है किन्तु आधार नहीं। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी ही संस्कृतियों और सभ्यताओं के अनुरूप अपने अलग-अलग रास्ते चुनने होंगे। हमें यहां पहुंचने में ९२ साल लगे जबकि पश्चिमी देशों को इससे दुगुना समय लगा। एशियाई देशों को कम समय में लाभ मिल सकता

है। श्री हयाशी के ये उत्तर सचमुच कुछ संकेतों को स्पष्ट करते हैं। उनके उत्तर में ऊपर चर्चित बातों के सारांश मिलते हैं किन्तु तकनीकी के सन्दर्भ में निम्न बातें विचारणीय हैं :— (i) उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में तकनीकी विकास आवश्यक नहीं, तकनीकी विकास का अंश इतना ही होना चाहिए ताकि पारंपरिक कार्यकुशलता समाप्त न हो। (ii) अनुसन्धान स्वसाधन और स्व पद्धति के लिए होना चाहिए। एक दम से नयी तकनीक लाना आवश्यक नहीं हैं (iii) तकनीकी के नाम पर सारे उद्योगों में एक साथ राष्ट्र व्यापी विकास की आवश्यकता नहीं। (iv) इस दिशा में अनुभवी कारीगरों के अनुभव के आधार पर गतिशील होना चाहिए न कि किसी विश्वविद्यालय से प्राप्त डिग्री धारी की बुद्धि पर। अक्सर पश्चिमी देशों से डिग्री प्राप्त कर आने वाले लोग अपने देश में चल रही तकनीक में आमूल परिवर्तन करने पर उतर आते हैं या कर देते हैं जो हमारे लिए भयंकर और दुःखद परिणाम देते हैं।

(च) **उत्पादन मूल्य** (**Cost of production**) : विभिन्न अर्थविदों ने अपने लेख और सिद्धान्तों के माध्यम से लागत मूल्य पर चर्चाएं की हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी समय-समय पर अलग-अलग विचार दिया है। उनमें तारतम्यता का अभाव रहा है। संक्षेप में यदि विवेचना करें तो 'प्रो. गालब्रेथ' के अनुसार उत्पादन मूल्य के आधार पर ही द्रव्य मूल्यों का ज्ञान होता है किन्तु गुलामी की दशा में इस बात का दृष्टिगोचर होना सम्भव नहीं। इसीलिए 'अरस्तू' ने केवल यही कहा कि हमें देखना चाहिए कि कीमत (मूल्य) न्याय संगत है या नहीं। 'सेण्ट थामस एक्वीनस' ने केवल यही कहा कि यह बाजार की सहनशक्ति पर निर्भर करता हैं। 'आदम स्मिथ' ने इसका सम्बन्ध श्रम-मूल्य के सिद्धान्त से जोड़ा।

'रिकार्डो' ने पुनः इसे ऐसे तत्त्व के रूप में देखा जो द्रव्य-मूल्य निर्धारित करता है। 'कार्ल मार्क्स' ने उपरोक्त सभी की विवचेना करते हुए अपने Surplus Value के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया।

जो भी हो किसी ने भी उत्पादन मूल्य की विवेचना नहीं की। केवल इसे किसी ने किसी अन्य बातों से जोड़ने का ही प्रयास किया। इसी आधार

पर मांग (Demand) और वितरण (Supply) के सिद्धान्त प्रतिपादित किए गये। यही कारण है कि विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों ने इसका उल्लेख अवश्य किया किन्तु अपने विचार के केन्द्र में अन्य किसी के साथ इसके सम्बन्ध की बात ही रखी। अर्थशास्त्र के वर्तमान प्रचलित शब्दों यथा मांग (Demand), वितरण (Supply), मूल्य (Price), बाजार (market), उपयोगिता (Utility) आदि को उत्पादन मूल्य के सन्दर्भ में कहा गया।

पाश्चात्य विद्वानों का दिवालियापन ही यही था कि किसी ने इस सम्बन्ध में भारत की ओर नहीं देखा। अन्यथा 'कौटिल्य' और 'शुक्राचार्य' के विभिन्न श्लोकों में न केवल उत्पादन मूल्य के सम्बन्ध में पूरी विवेचना की गयी है अपितु आज के समस्त उपरोक्त परिणामों के बारे में भी विस्तृत संकेत हैं। पाश्चात्य अर्थ-दर्शन में जहां एक दूसरे की बात को समय और काल परिवर्तन के आधार पर संशोधन एवं काट की आवश्यकता है वहीं कौटिल्य और शुक्राचार्य की नीतियों की सार्थकता समय और काल परिवर्तन से अछूती रही है। आज से ३५०० वर्ष पहले जो नीति तय की गयी उसकी सार्थकता आज भी ज्यों की त्यों है। द्रव्य मूल्यों का आधार उत्पादन मूल्य पर ही केन्द्रित है। यही नहीं उत्पादन के विभिन्न उपादानों की सूची और व्याख्या भी की गयी है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि जब तक इन दो भारतीय अर्थविदों के विचारों को जोड़ा नहीं जाएगा तब तक वास्तव में वर्तमान अर्थशास्त्र अधूरा ही रहेगा। जो भी हो यह बात निर्विवाद सत्य है कि उत्पादन मूल्य उत्पादन के विभिन्न उपादानों पर निर्भर करता है। और इसी के आधार पर किसी वस्तु मूल्य को सही-सही हम जान सकते हैं। दुर्भाग्य से हमारे यहां बाजार में द्रव्यों की कीमत (विक्रय मूल्य) तो लिखी रहती है किन्तु लागत मूल्य नहीं लिखा होता। यही कारण है कि एक ही बाजार में एक ही वस्तु की कीमत बेचने वालों की कला पर निर्भर होती है। जो जितना लाभ कर ले, कर सकता है। इसी कारण मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति बढ़ी हुई है। सबसे आश्चर्य की बात है कि हमारे कुछ कानून हमें उत्पादन मूल्य जानने में बाधक भी हैं। इन्हें दूर करना होगा। ऐसी व्यवस्था करनी पड़ेगी जिससे प्रत्येक वस्तु के उत्पादन मूल्य का सही ज्ञान जनता जनार्दन को मिल सके। तभी

मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण किया जा सकता है। इसीलिए प्रत्येक उत्पादक को उत्पादित वस्तुओं के उत्पादन मूल्य को घोषित करना पड़ेगा इस सम्बन्ध में यथाशीघ्र व्यवस्था करनी पड़ेगी।

(छ) **आय, वेतन, मूल्य (Income, Wage, Price)** : किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में ये तीनों कारक संकेतक (Barometer) हैं। इन्हीं कारकों के आधार पर हम राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की वास्तविक झलक पा सकते हैं। प्रति व्यक्ति आय या वेतन का अच्छा होना और मूल्यों का नियन्त्रण होना ही सफल अर्थव्यवस्था के परिचायक हैं। इसलिए विभिन्न अर्थविदों ने इनके बारे में सिद्धान्त भी रूपायित किया है। तथा संकेत भी दिया है। क्योंकि यह सभी को मालूम है कि इन कारकों को ठीक न रखा गया तो परिणाम भयंकर होते हैं। आज जिस प्रकार का स्वरूप हमारे देश में वर्तमान है वह बहुत ही दुःखद और निराशाजनक है। वेतन में थोड़ी सी वृद्धि के साथ ही (कभी-कभी पहले ही) मूल्यों में असाधारण वृद्धि हो जाती है। कुछ स्वार्थी तत्त्वों का यह अनवरत प्रयास रहता है कि वे यह सिद्ध कर दें कि वेतन वृद्धि ही मूल्यवृद्धि का कारण है ताकि श्रमिक और मेहनतकश लोगों को जनता के अन्य घटकों से दूर किया जा सके, आपस में अविश्वास और अनादर की भावना निर्माण किया जा सके ताकि एक प्रकार की अराजकता पैदा हो। इसीलिए यह विषय बहुत ही मर्मस्पर्शी है। सरकार भी इस दिशा में ठीक व्यवस्था की यदकदा प्रयास करती है। किन्तु उसके इरादे चाहे जो रहे हों परिणति हमेशा वीभत्स हो जाती है। इसमें नौकरशाही, पूंजीपतियों और सरकारी-घटक यथा मंत्री गण के त्रिजोट की भूमिका ही होती है। १९७७ की जनता सरकार ने इस व्यवस्था को ठीक करने के उद्देश्य से भूतलिंगम समिति का गठन किया किन्तु उसे कार्यभार देते समय ऐसे विषयों में उलझा दिया गया कि वह समिति वास्तविक उद्देश्य से विमुख हो गयी और सारे लोगों का विश्वास खो बैठी।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि त्रिजोट रूपी उक्त स्वार्थी तत्त्व द्रव्य मूल्य को वेतन से जोड़कर इतना भ्रामक प्रचार कर रहे हैं कि आज

आम जनता यही समझती है कि वेतन बढ़ने से ही द्रव्य मूल्य बढ़ता है। हमें विचार करना होगा क्या यह बात सही है ! द्रव्यमूल्य का सीधा सम्बन्ध वेतन से है ! या उत्पादन कीमत से है !

कितना भी भ्रामक प्रचार क्यों न हो, वास्तविकता यही है कि उत्पादन-मूल्य बढ़ने से कीमतें बढ़ेंगी और उत्पादन मूल्य घटने से कीमतें घटेंगी। इसलिए द्रव्यमूल्य का सीधा सम्बन्ध उत्पादन-मूल्य से है। द्रव्य मूल्य समानुपाती उत्पादन मूल्य।

अब जैसा कि ऊपर ही कहा गया है कि उत्पादन करने वाले लोग तो सीधे-सादे हैं किन्तु उत्पादों का वाणिज्य-व्यापार करने वाले लोग अति चालाक हैं इसलिए वे जनता का ध्यान उत्पादन मूल्य से हटाकर वेतन की ओर लगा देते हैं। वास्तव में कीमतों की अनाप-शनाप वृद्धि का कोई सटीक तर्क नहीं है। जिसके मन में जो आया,जितनी चालाकी आई उतना ही द्रव्य मूल्य बढ़ाकर ले लिया। इसलिए इस व्यवस्था में परिवर्तन लाना अति आवश्यक कार्य है। अल्प में ही विचार किया जाय तो इस व्यवस्था को ठीक करने में निम्न विचार सहायक हो सकते हैं :—

'एक योजना बद्ध विकास हो जिसमें मानवीय श्रम की पूरी उपयोगिता हो, समस्त साधनों का उपयोग हो, अधिक से अधिक लोग रोजगार पा सकें, अधिक उत्पादन अधिक व्यक्तियों के द्वारा हो, जिसमें आर्थिक प्रजातन्त्र के माध्यम से न्यायसंगत ऐसी वितरण व्यवस्था हो जो सभी के लिए सुलभ हो। ताकि इस व्यवस्था के परिणाम स्वरूप प्रति व्यक्ति आय या वेतन तो बढ़े ही साथ ही मूल्यों पर भी नियन्त्रण हो। अन्यथा आय या वेतन की वृद्धि का कोई अर्थ नहीं हो सकता। अब इन विषयों पर विवेचना अपने आप में एक विशद और चिन्तनीय अध्याय या पर्व है जो यहां प्रासांगिक तो है पर वृहदता की दृष्टि से आवश्यक नहीं है। अतः संक्षेप में ऐसी व्यवस्था को प्राप्त करने के लिए निम्न कदम उठाये जा सकते हैं:—

(i) आय विषमता समाप्त हो। वर्तमान व्यवस्था में अत्यधिक आय

करने वाले टाटा, बिड़ला प्रभृति के साथ साधारण कर्मचारी के आय की कोई तुलना ही नहीं। यह अनुपात वर्तमान समय में १० :१ लाकर इसमें भी धीरे-धीरे कमी लाई जाय।

(ii)आवश्यकतानुसार न्यूनतम वेतन सबको मिले।

(iii) अति आवश्यक सामग्रियों का ही आयात हो।

(iv) आवश्यक सामग्रियों पर से परोक्ष कर व्यवस्था समाप्त कर देनी चाहिए।

(v) काले धन की समाप्ति हो, क्योंकि आज यह समानान्तर अर्थव्यवस्था का रूप धारण करता जा रहा है।

(vi) योजना बद्ध तरीकों से बजट-घाटे को आश्चर्यजनक सीमा तक कम किया जाय।

(vii) विलासी और अनावश्यक खर्चों की एक दम कटौती की जाय।

(viii) एक समान वेतन प्रणाली की व्यवस्था की जाय।

(ix) बेरोजगारी दूर करने के सभी उपायों पर तुरंत (यथाशीघ्र) कदम उठाएं जाय।

(x) विकेन्द्रित उत्पादन प्रणाली अपना कर उत्पादन मूल्य की घोषणा को कानूनी आवश्यकता का रूप दिया जाय। तथा ग्राहकों को इस बाबत पूछताछ का अधिकार हो

(xi) निर्यात की क्षमता बढ़ायी जाय।

(xii) उत्पादन और उत्पादकता में संख्यात्मक और गुणात्मक वृद्धि आवश्यक है।

(xiii) इस वृद्धि का लाभ केवल पूंजीपति (नियोजक) ही नहीं अपितु

श्रमपति (नियोजित) को भी समान रूप से मिले ।

(xiv) उत्पादन में वृद्धि के लिए उत्पादन-बोनस प्रणाली भी अपनायी जा सकती है ।

(xv) उद्योग में काम आने वाले विभिन्न आवश्यक कारकों (Raw materials) का संरक्षण एवं संचय भी आवश्यक है ताकि दुर्दिन में काम आ सके ।

(xvi) जनता या ग्राहक और दुकानदार द्वारा स्थापित स्वतन्त्र संस्था की देखरेख में वितरण व्यवस्था कायम की जाय । निर्धारित मूल्यों वाली दुकानों का नियन्त्रण भी ऐसी ही संस्था के हाथ में हो ।

(xvii) सरकारी खर्चों यथा मंत्री और अधिकारी गणों के खर्चों में भारी कटौती की जाय ।

(ज) **कानूनों में आवश्यक सुधार :—** दुर्भाग्य से हमारे देश में कुछ ऐसे कानून बन गये हैं जो आर्थिक अवस्था को सुधारने के बदले बिगाड़ने की ही भूमिका निभाते हैं । कानून बनाने वालों के इरादे भले ही साफ रहे हों किन्तु इन कानूनों के उपयोग से यह बात स्पष्ट है कि ये अर्थव्यवस्था में उथल-पुथल की ही सृष्टि ज्यादा करते हैं । ऐसे कानूनों में प्रमुख रूप से पेटेन्ट कानून (Patent law), कापीराइट नियम (Copryright Act), ब्राण्ड कानून (Brand Act), ट्रेड मार्क नियम (Trade mark Act) और ज्वायण्ट स्टाक नियम हैं । शेयर मार्केट भी उल्लेखनीय है । इन कानूनों का एकमात्र उद्देश्य एकाधिकार को मजबूत करना और उनके आधिपत्य को जमाना है या जमाने में सहायता करना है । परिणामतः पूंजी का एकत्रीकरण और लाभ-प्रवृत्ति को स्वयमेव ही बढ़ावा मिल जाता है । यह भी एक बड़ा कारण है,जिससे कि पूंजीवाद का विकास और जड़-पल्लवन अपने देश में मजबूत हुए । इन कानूनों के बारे में तो वैसे बहुत सी बातें कही जा सकती हैं किन्तु यहां उनका प्रयोजन नहीं है । संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि एक उत्पादक अपने उत्पाद को उत्पादित करे तो उसकी नकल नहीं

हो सकती। एक विशेष ब्राण्ड का उत्पादन एक विशेष उद्यमी या संस्था ही करे, दूसरा उसे कर ही नहीं सकता। इससे एकाधिकार की भावना सबल होती है। इन कानूनों ने न केवल अन्य चीजों को, अपितु जीवनोपयोगी चीजों विशेषतः कृषि और औषधि उत्पाद को अपने जाल में ऐसा जकड़ा है कि उससे छुटकारा पाना सहज नहीं। स्वयं सरकार भी इनके चंगुल में फंस गयी है। इस दिशा में न केवल स्वदेशी अपितु विदेशी पूँजीपतियों ने भी ऐसा जाल बुना है कि सारा देश ही आज इनकी गिरफ्त में है। स्वदेशी कम्पनियों में स्पर्धा समाप्त हो गयी और विदेशी कम्पनियों के तो कहने ही क्या है।

डंकल प्रस्ताव : अभी हाल में ही डंकल प्रस्ताव की चर्चा जोरों से उठी है। क्या है यह डंकल-प्रस्ताव ! इसका भी थोड़ा जायजा लें तो हम समझ सकते हैं कि इस दिशा में विदेशी कम्पनियां किस प्रकार हमारे कृषि और किसानों को तबाह करने पर तुली हैं।

डंकल की पेटेण्ट कानून से सम्बन्धित धारा ५ की उपधारा ३ (बी) के अनुसार ड्राफ्ट से सहमत होने वाले देश पौधों की किस्मों का पेटेन्ट करेंगे या उसके स्थान पर अपने ही प्रकार की एक विशिष्ट पद्धति (स्विस जेनरिस सिस्टम) लागू करेंगे या इन दोनों तरीको से मिली-जुली पद्धति अपनाएंगे। पौधों की प्रजातियों के संरक्षण के संघ (यूपोव) द्वारा पौधों के प्रजनकों के अधिकार के लिए बनाए गए नियम सुई जेनरिस सिस्टम का एक उदाहरण है, पौधों के प्रजनकों के अधिकार के पुराने नियमों के अनुसार एक प्रजनक का दो महत्त्वपूर्ण अपवादों के अलावा अपनी विभिन्न प्रजातियों पर लगभग सम्पूर्ण अधिकार था। प्रथम अपवाद के अनुसार किसी भी प्रजनक को किसी नई प्रजाति को तैयार करने, संरक्षित प्रजाति के इस्तेमाल करने का अधिकार था। दूसरे अपवाद के अनुसार किसानों को अपनी वार्षिक उपज से अगली फसल के लिए बीज बचाकर रखने का अधिकार था।

पेटेण्ट पद्धति के उपरोक्त दो अपवादों को "यूपोवसंधि" ने १९९१ में संशोधित करके कठोर बना दिया है। नये नियमों के अनुसार किसानों

और प्रजनकों को मिलने वाले उक्त दोनों अपवादों को समाप्त कर दिया गया है। अब इसी अध्याय के अनुच्छेद ३४ के नये नियमानुसार पेटेंट के उल्लंघन सम्बन्धित प्रमाण का दायित्व 'वादी' पर न रहकर 'प्रतिवादी' पर ही डाल दिया गया है। इस प्रकार पेटेन्ट धारक अब इतना अधिक शक्तिशाली हो गया कि प्रजनक और किसान उसके हाथों की कठपुतली बन गये। किसान न तो बीज बना सकता है और न प्रजनक नयी नस्ल। इसी प्रकार अनुवांशिक संसाधनों को खाद और कृषि संगठन (ए. एफ. ओ.) जैसी संस्थाओं ने मानव की सामूहिक धरोहर माना है ताकि समस्त मानव जाति को ये उपलब्ध रहे। किन्तु अब इस उपलब्धि पर कानून का शिकंजा है।

कुल मिला जुलाकर हम यह कह सकते हैं कि विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में यदि सबसे अधिक कोई चीज बाधक हो सकती है तो वह ऐसे ही एकाधिकार पोषक कानून है। इसलिए या तो इन्हे समाप्त कर देना चाहिए या फिर अविलम्ब इनमें व्यापक और आवश्यक संशोधन करना चाहिए।

(ii) **बहुराष्ट्रीय कम्पनियां (Multinational Companies) :—** दैनिक जीवनोपयोगी तथा अन्य क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का इसी प्रकार का शिकंजा हमारी अर्थव्यवस्था का न केवल संतुलन बिगाड़ रहा हैं बल्कि देश को अविलम्ब दिवालियेपन की ओर धकेल देने के लिए दोनों हाथों से लूट मचाए हुए है। 'जन लेखा समिति' ने अपने २२१ वें प्रतिवेदन में औषधि उद्योग में एकाधिकार की गतिविधियों के बारे में गठित समिति द्वारा दी गई सूचना में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के द्वारा कीमतों के स्थानान्तरण और कीमतों के अधिक आकलन के प्रति आगाह किया है। टनों दवाएं जो अन्तरराष्ट्रीय बाजार में १०० रुपये प्रति किलो की दर से उपलब्ध हैं, उन्हें ५००० रु. प्रतिकिलो की बनावटी दर से खरीदा गया और इस तरह से हमारे देश ने करोड़ों रुपये की विदेशी मुद्रा खो दी।

इसी प्रकार प्रचलित तकनीक का ८०% भाग बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथ में है। भारत में ७८% औषधि उद्योग बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के अधिकार में है जबकि १६% निजी संस्थानों एवं ६% सहकारी संस्थानों

द्वारा प्रबन्धित हैं।

दुनिया की बहुत सारी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां आपस में मिलकर उत्पादन और वस्तुओं का बाजार नियन्त्रण में रखकर मांग और आपूर्ति में कृत्रिम अभाव बनाए रखती हैं। १९७३-७४ में तेल-प्रभुओं ने तेल और ऊर्जा संकट केवल तेल के मूल्य में वृद्धि के लिए ही पैदा किया था। इस तिकड़म द्वारा प्राप्त हजारों करोड़ (पेट्रो) डालर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने यूरोप तथा अमेरिका के बैंको में जमा कर दिया और किसी भी देश की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को नियन्त्रित करने में इसका उपयोग किया जा रहा है। यही नहीं, लाभ और अत्यधिक लाभ के लिए ये ऐसी दवाइयों या चीजों का उत्पादन करते हैं, जो मानव जीवन के लिए खतरनाक हैं। इस सन्दर्भ में भोपाल गैस-काण्ड जीती-जागती त्रासदी है। इस प्रकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियां देश को आर्थिक गुलामी की ओर धकेलती हैं। इस कथन का अभिप्राय यह बिल्कुल नहीं कि यहां की बहुराष्ट्रीय कम्पनियां समाप्त कर दी जायं। अधिक संख्यक बन्द करने लायक हैं किन्तु कुछ की उपयोगिता भी है।

इन कम्पनियों की मानसिकता से अवगत होते हुए भी भारत सरकार इन्हें अपने यहां खुला निमन्त्रण और खुली छूट दे रही है। अब तो कई क्षेत्रों में उन्हें लाइसेन्स की भी जरूरत नहीं। साथ ही ये कम्पनियां ५१% से अधिक शेयर रख सकती हैं विगत कालों के अनुभव के प्रकाश में ये नीतियां सराहनीय कदापि नहीं हो सकती अपितु निन्दनीय हैं। किसी भी देश में कोई दूसरा देश व्यापार कर सकता है, परन्तु इस तरह नहीं कि वहां की जनता को उसकी शर्तें स्वीकारनी पड़े और व्यापार करने वाले देश के ही सारे नियम माने जायं। हमारे देश में विदेशी कम्पनियां हमारे ही सस्ते संसाधन और सस्ते श्रमिकों के उपयोग और बल पर कारखाना चलाएंगी और हमें ही आंख भी दिखाएंगी। हमसे अपने मुंह-मांगी दाम भी वसूलेंगी। यह किसी भी व्यापार-सिद्धान्त के लिये अशोभनीय हैं। GATT के अन्तर्गत जो भी समझौते हुए है, उन्हें जनता के समक्ष लाना चाहिए। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपनी मनमानी शर्तों के आधार पर हमारे

यहां कारखाने चला रही हैं—यह हमारी दुर्बल नीतियों का परिचायक है।

हमें देखना पड़ेगा कि किस क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय कम्पनी की आवश्यकता है। और तब हम ऐसे क्षेत्रों में अपनी शर्तों के आधार पर उन्हें आमंत्रित करें। अतः इन कम्पनियों के प्रवेश पर भली-भांति गहन विचार की आवश्यकता है।

(iii) **रुपये का अवमूल्यन :—** आज हमारे देश में व्यापार की ऐसी दुर्बल भूमिका है कि बाहरी देश अपने सामान की खपत की दृष्टि से अच्छा मानते हैं किन्तु यहां का सामान खरीदना बेवकूफी मानते हैं। यह स्थिति केवल दुर्भाग्यजनक ही नहीं बल्कि शर्मनाक भी है। आज हमारे निर्यात कम हो गये किन्तु आयात बढ़ गये। आखिर क्यों ? जिस देश में आयात अधिक और निर्यात कम होगा, वहां बाहरी लोगों का ही आधिपत्य होगा। और बाहरी लोग ऐसी ही स्थिति का निर्माण करेंगे ताकि हमारी आदान-प्रदान की दर (Rate of exchange-value) कम हो जाय अर्थात हमारी नोटों की कीमत उनकी नोटों की कीमत की तुलना में कम हो जाय। इन्हीं कारणों से रुपये का अवमूल्यन निरन्तर होता रहा है। इस सम्बन्ध में डा. बाबा साहेब अम्बेडकर ने समय-समय पर अपने विचार व्यक्त किए हैं उन्हें व्यवहार में लाने की आवश्यकता है। हमें अपने रुपये के अवमूल्यन को रोकना पड़ेगा। अन्यथा हम दिन प्रतिदिन दिवालिया ही बनेंगे।

(iv) **अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक :—** विकास के नाम पर अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) और विश्व बैंक (World bank) से हम सहायता प्राप्त करते हैं। किन्तु वास्तव में इनके द्वारा प्राप्त राशि से हमारा विकास होता है या शोषण— इस तथ्य पर सूक्ष्म विवेचना की आवश्यकता है। रिज़र्व बैंक के अनुसार भारत अब जो कर्ज ले रहा है उसको ६३% भाग पुराने ऋण और उस पर देय ब्याजों की अदायगी में खर्च होगी और केवल ३७% भाग ही हमारी बिगड़ी अर्थव्यवस्था की गाड़ी को पटरी पर लाने में खर्च होगा। जिस प्रकार 'काबुली वालों' और सूदखोर महाजनों के चंगुल से साधारण कर्ज लेने वाले का छुटकारा पाना कठिन है उसी दशा को आज यह देश प्राप्त हो रहा है। इन संस्थाओं का

पैसा उन्हीं के पास रह रहा है या जा रहा है और कर्जदार हम हुए जा रहे हैं। हमारा शोषण दोनों हाथों से किया जा रहा है। और हम भिखारी की भांति गिड़गिड़ा रहे हैं। यह व्यवस्था तो नहीं चलने देनी चाहिए। राष्ट्र सम्मान को तिलांजलि नहीं दी जा सकती। इसमें समूल परिवर्तन की आवश्यकता है। विकास के लिए यदि हमें कर्ज की आवश्यकता है तो हमें तय करना चाहिए कि हमें कितने विकास की आवश्यकता है। क्या इच्छित विकास का कुछ भी अंश हमारी अपनी सामर्थ्य से पूरा नहीं हो सकता ? आवश्यक विकास हमारी शक्ति से यदि पूर्णतया बाहर है तो क्या उसका होना अभी ही आवश्यक है। यदि आवश्यक है तो होना चाहिए किन्तु अपनी शर्तों पर। जितनी आवश्यकता हमें अपने विकास की है उतनी ही आवश्यकता इन संस्थाओं को अपने व्यापार के प्रसार की भी है। अतः यदि हम ईमानदारी के साथ अपनी जगह अडिग रहें तो अवश्य ही हमारी शर्तों पर ही हमें ऋण मिलेगा। इसलिये इसमें अनुशासन और संयम की आवश्यकता है। ऋण लेना वैसे भी शोभनीय नहीं। सम्राट अशोक के अभिलेखों की यह (निम्न) उक्ति इस संदर्भ में हमारी दिशा निर्देश कर सकती है :— 'अल्प व्ययता-अल्प माण्डता' (कम खर्च ही ठीक)

(v) **कर व्यवस्था (Taxation)** : कर व्यवस्था भी इतनी दोषपूर्ण है कि घूम फिर कर सामान्य जनता ही इसकी शिकार बनती हैं। प्राचीन अनुभव में कर तो केवल राजा अपनी व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए लेता था और शेष सभी व्यापारों में प्रजा स्वतन्त्र थी और आज जन्म से शुरू करके, जीने के संघर्ष और मृत्यु तक हम कर के शिकंजे में हैं। किसी न किसी बहाने हमें अधिकांश चीजों के लिये कर देना ही पड़ता है। व्यापार हो या नौकरी, सभी कुछ कर के दायरे में है। गलत कर व्यवस्था राष्ट्र के लिये खतरनाक होती है। रोमन साम्राज्य के पतन के कारण में गलत कर व्यवस्था थी। अमेरिका को भी इसे भुगतना पड़ा है। काले धन (Black money) का निर्माण भी इसी से होता है। इसलिए कर व्यवस्था पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। सारे परोक्ष करों से जनता को मुक्त करना तथा कम से कम कर जनता से लेना एक राष्ट्रीय धर्म है।

(vi) **स्वतन्त्र व्यवसाय और उद्योग :—** विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में व्यवसाय और उद्योग को अधिकाधिक प्रजातांत्रिक और स्वतन्त्र होना चाहिए। नियन्त्रण इसके विकास के विरूद्ध है। इसलिए सभी को स्वतन्त्र रूप से स्वस्थ स्पर्धा के आधार पर अधिक से अधिक व्यवसाय करने का अधिकार देना और सुयोग देना राष्ट्रीय धर्म है। केवल निगरानी इस बात की रखनी होगी कि कहीं कोई एकाधिकार का रूप तो नहीं अपना रहा। अथवा शोषण, अधिक लाभ की मनोवृत्ति से कृत्रिम संकट पैदा करने की कुचेष्टाएं तो नही हो रहीं। वास्तव में सरकार को इसी तरह की निगरानी का काम करना चाहिए न कि व्यापार में लगकर व्यावसायिक माहौल को बिगाड़ना चाहिए।

हमारी आर्थिक पुनर्रचना कैसी हो :—

सबसे पहले इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था का झुकाव किधर है! इस विषय पर सभी लोग एकमत होंगे कि हमारी सामाजिक व्यवस्था ग्रामीण व्यवस्था से ही पनपी है। क्योंकि हमारा देश आदि से ग्राम बाहुल्य देश है। अतः नई रचना में निम्न पर ध्यान देना होगा।

ग्रामीणी करण :— हमें देखना है कि हमारे बहुसंख्यक ग्रामों का विकास कैसे हो। हमें स्वतन्त्र, स्वावलम्बी और स्वसाधन उपयोग में करने वाली ग्राम-ईकाइयों की रचना पर ही बल देना होगा। उनकी समस्याओं के निदान में ही राष्ट्रीय समस्याओं के निदान का मार्ग प्रशस्त होगा। सामाजिक व्यवस्था के साथ ही आर्थिक व्यवस्था की बात सम्बन्धित है। इसलिए यह भी देखना होगा कि आर्थिक व्यवस्था कैसे सुदृढ़ हो। इसके लिए अपनी परम आवश्यकताओं पर भी ध्यान देना होगा। साधारणतः आवश्यकताओं को नारा बद्ध करने के लिए 'रोटी, कपड़ा और मकान' का नारा बुलन्द करते हैं तो यह केवल नारा ही नहीं अपितु इसी में हमारी आर्थिक पुनर्रचना का संकेत भी है। अर्थात हमें किन बातों पर अधिक ध्यान देना है— खाने के लिए रोटी, पहनने के लिए कपड़ा और रहने के

लिए मकान। अर्थात अन्न,कपास और भवन सामग्रियां। अब अन्न कृषि से,कपड़ा कृषि और उद्योग से और मकान के लिए सामग्रियां क्रय क्षमता से उपलब्ध होंगे। अतः आर्थिक संरचना की प्रथम कड़ी कृषि,दूसरी कड़ी उद्योग है। इस उद्योग में हमें प्रधानता कपड़ा उद्योग को देना पड़ेगा क्योंकि यह केवल हमारे समरूप है,अपितु आवश्यक भी है। अब प्रकृति का यह कैसा चमत्कार है कि मानव की इन मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का सबसे बड़ा भण्डार विश्व में किसी को प्राप्त है तो वह भारत है। क्योंकि हम प्रारम्भ से ही कृषि प्रधान रहे हैं। अतः हमारे यहां संसाधनों की कमी नहीं। अतः आर्थिक पुनर्रचना में जो महत्त्वपूर्ण कदम हमें उठाने चाहिए वे निम्न हो सकते हैं।

(क) कृषि : किसानीकरण के आधार पर,(ख) उद्योग : श्रमीकीकरण के आधार पर,(ग) व्यवसाय : व्यवसायीकरण के आधार पर तथा (घ) सेवा : सेवामय भावना के आधार पर।

(क) कृषि : किसी ने ठीक ही कहा है कि Agriculture is a culture where all cultures agree. अर्थात कृषि में ही सारी संस्कृति और सभ्यताओं का समझौता है। यह भी कितनी प्रेरणादायक है। जो भी हो कृषि का भी विकास हमें छोटे-छोटे किसानों की सहायता से ही करनी चाहिए। इसलिए भूमि के वैज्ञानिक बैठने की आवश्यकता है। ज्यादा से ज्यादा जमीन छोटे किसानों के हाथ में और कम से कम बचा हुआ भाग आज के कथित बड़े काश्तकारों के हाथ में देना चाहिए। इसके अलावा जिस जमीन पर खेती नहीं होती,उसे भी खेती योग्य बनाकर उपयोग में लाना चाहिए। इस तरह कृषि का विकासकिसानी करण के द्वारा ही हो सकती है।

हमारे देश में कुल १८ करोड़ खेती लायक जमीन है। जो प्राकृतिक वर्षा हमें प्राप्त होती हैं उससे ११ करोड़ जमीन की आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। किन्तु पाश्चात्य नकल में बड़े-बड़े बांध (Dams) बनाकर प्राकृतिक संतुलन को नष्ट किया गया,जिससे हमें लाभ के बदले नुकसान

ही अधिक हुआ। हमारी इतनी ताकत है कि हम अन्न के मामले में न केवल स्वावलम्बी, अपितु निर्यात भी कर सकते हैं।

खेती में कितनी पाश्चात्य तकनीक की आवश्यकता है और कितना हम अपनी पुरानी पद्धति में ही थोड़े फेर बदल कर सकते हैं यह भी देखने की आवश्यकता है। आज बहुत सारे वैज्ञानिक इस बात को मान रहे हैं कि गोबर खाद, यूरिया खाद से अधिक लाभदायक है। उसी प्रकार ट्रेक्टर से अधिक बैल ज्यादा लाभकारी है। इसलिए दोनों अनुभवों में से हमें हमारे साधन और उनकी उपयोगिता के आधार पर मार्ग ढूंढने पड़ेंगे। और यह बहुत मुश्किल कार्य नहीं है।

(ख) **उद्योग :** उद्योग का अधिकांश भाग छोटे उद्यमियों के ही हाथ में होना चाहिए। साथ ही उद्योग में श्रमिकों, ग्राहकों और कच्चा माल उत्पादकों को भी उचित सम्मान मिलना चाहिए। उद्योगों में श्रमीकीकरण अर्थात श्रमिकों को मालिकाना हिस्सा देना चाहिए। ताकि श्रमिकों को यह विश्वास हो कि इसकी लाभ-हानि में उनका भी लाभ-हानि जुड़ा है। इसलिए उन्हें लाभांश मिलना ही चाहिए। केवल वेतन गुलामी भावना उत्पन्न करती है और वह फिर उत्पादन और उत्पादकता दोनों के लिए बाधक है।

(ग) **व्यवसाय :** छोटे-छोटे व्यवसाय के आधार पर ही राष्ट्र का विकास हो सकता है। इसलिए हमें इस प्रकार का वातावरण निर्माण करना होगा ताकि छोटे व्यवसायी स्वतन्त्रता पूर्वक अपने स्वभाव और गुण के आधार सत्य व्यवहार के माध्यम से व्यवसाय करें। लाभ की सीमा तय रहे। अत्यधिक लाभ न लेना और न लेने देना इन दोनों पर निगरानी की आवश्यकता है।

(घ) **सेवा :** सेवा एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें अर्थोपार्जन की भावना कम और सेवाभाव ही ज्यादा होनी चाहिए। जहां काम करने वाले कर्मचारी सेवा की भावना के आधार पर ही काम करें, वहीं ऐसे प्रतिष्ठान चलाने वाली सरकार या सामाजिक प्रतिष्ठान या उदारता के नाम पर

पूंजीपति-संयोजक को भी यह देखना चाहिए कि सेवा करने वाले कर्मचारी को उनका उचित पारितोषिक मिले। यह एक सामाजिक दायित्व है। ऐसे कर्मचारियों को पूर्ण सन्तोष प्रदान करना समाज और सरकार का धर्म है। और वैसे ही इन कर्मचारियों के लिए भी अपने काम में सेवा भावना से समर्पित होना धर्म है। नियोजक और कर्मचारी दोनों ही सेवा भावना पर शोषणहीन दशा में अपने-अपने धर्म का पालन करें।

(ङ) शहर व्यवस्था :— जहां ग्रामीणीकरण को हमारी आर्थिक पुनर्रचना में बल दिया गया है वहीं शहरों पर भी हमें वहां की परिस्थिति के अनुकूल ऊपर चर्चित सिद्धान्तों के स्वतन्त्र क्रियान्वयन पर बल देना आवश्यक है। शोषण और अंकुश मुक्त समाज ही अभिप्रेय होना चाहिए। इस प्रकार **स्वश्रम, स्व साधन** और **स्वपद्धति** के आधार पर अधिक से अधिक स्वदेशी चीजों के उपयोग की सहायता से अपनी आर्थिक व्यवस्था को दृढ़ संकल्प और विविध चेष्टाओं द्वारा ठीक कर सकते हैं। हमारी सफलता की कुंजी इसी में निहित है कि हम उक्त मार्गों का अवलम्बन पूर्ण सावधानी और इमानदारी से करें। आत्म विश्वास का उजागर होना परमावश्यक है। इस सन्दर्भ में श्रीमद्‌भगवत गीता का यह श्लोक प्रासांगिक होगा :—

'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्' (अध्याय ११ श्लोक १४)

अर्थात कर्मों की सफलता में दृढ़ संकल्प, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न कारण और नाना प्रकार की चेष्टाएं ही मूल कारण है। ये चारों जहां इकट्ठे होते हैं वहां दैव अर्थात् भाग्य अपने आप उदय होता है। अर्थात सफलता उद्योग से ही मिलती है।

प्रयोगिक रूप :

मार्क्सवाद में 'कम्यून' की कल्पना है और हमारे दर्शन में अलग 'ऋषि आश्रमों' द्वारा सम्पूर्ण व्यवस्था की कल्पना है। आज के इस वैज्ञानिक युग में जितनी भी अच्छी बातें हम क्यों न करें-कहें जब तक उनका प्रयोगिक

रूप सामने नहीं प्रस्तुत करते, तब तक हमारी बातें मान्य नहीं। सरकार से ऐसे प्रयोग की आशा या इस तरह के प्रयोग में सहयोग की आशा क्षीण है। अतः हमें ही आगे आना होगा। श्री नाना जी देशमुख के अन्त्योदय, वनवासी कल्याण आश्रम द्वारा किये जा रहे कल्याण कार्य और ऐसी ही संस्थाओं या व्यक्तियों द्वारा किये गये प्रयोगो के आधार पर हमें भी निम्न कार्य करने होंगे।

(क) आदर्श ग्राम और (ख) आदर्श शहर।

नमूने के तौर पर हममें से कुछ लोगों को कुछ गांव और कुछ शहर चुनकर उपरोक्त प्रकार से सत्य शिक्षा और आचरण के वातावरण का निर्माण कर कृषि, उद्योग एवं व्यवसाय स्थापित करने होंगे। इस दिशा में भिन्न-भिन्न प्रयोगों की आवश्यकता है ऐसे ही प्रयोगों की सफलता के बाद हम शेष सभी को अपनी बात का विश्वास दिला सकेंगे। और यही राष्ट्रमाता की सच्ची सेवा होगी।